पं. दीनदयाल उपाध्याय
विचार-दर्शन

खण्ड ३

राजनीतिक चिन्तन

पं. दीनदयाल उपाध्याय: विचार-दर्शन

खण्ड ३

राजनीतिक चिन्तन

समर्पण

उन साधकों और कर्मवीरों को,
जो युगों-युगों से चलती आयी
आध्यात्मिक चिन्तनधारा से पोषित
श्रेष्ठ जीवनादर्शों को युगानुकूल
कलेवर प्रदान करने के लिए
कृतसंकल्प हैं।

पं. दीनदयाल उपाध्याय
विचार-दर्शन

खण्ड ३

राजनीतिक चिन्तन

लेखक

भालचन्द्र कृष्णाजी केलकर

अनुवादक

मोरेश्वर तपस्वी

सुरुचि प्रकाशन

केशव कुञ्ज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली–११००५५

प्रकाशक:
सुरुचि प्रकाशन
केशव कुञ्ज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली–११००५५

© **सुरुचि प्रकाशन**

प्रथम संस्करण : २५ सितम्बर, १९८६

मूल्य पुस्तकालय संस्करण ३५ रुपये
पत्रावरण (पेपरबैक) संस्करण १७ रुपये

छाया-शब्दसंयोजन (फोटोकम्पोजिंग):
ग्रामीण दुनिया, १९९ साइकिल मार्केट-१,
झण्डेवाला विस्तार, नयी दिल्ली–११००५५

लेखक का निवेदन

प्रस्तुत ग्रंथ पंडित दीनदयाल जी के राजनीतिक जीवन-चिन्तन तथा व्यक्तित्व का अध्ययन है। यह पंडित दीनदयाल जी के राजनीति में प्रवेश करने से लेकर हुई घटनाओं की सूची नही। जनसंघ की स्थापना भारतीय राजनीति की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। १९५१ से ७७ तक के २६ वर्षों में एक स्वतंत्र राजनीतिक विचार-प्रणाली और तत्त्व दृष्टि जनसंघ ने स्थिर की। दल के रूप में वह राजनीतिक जीवन में स्थिरपद हो गया। इस सबके सृजनकर्ता पंडित दीनदयाल जी थे। वह सारा राजनीतिक इतिहास समग्र रूप से लिखे जाने की आवश्यकता है। जब कभी वह लिखा जाये, पंडित दीनदयाल जी का राजनीतिक स्थान और भी ऊँचा हो जायेगा। प्रस्तुतः ग्रंथ ऐसे प्रकल्प की रूपरेखा है। 'दीनदयाल उपाध्याय : विचार-दर्शन' के उपक्रम में इसका समावेश इसी दृष्टि से किया गया है।

किसी भी चरित्र ग्रंथ के लिये उस चरित्र संबंधी जानकारी के मौलिक साधन आवश्यक होते हैं। 'विचार-दर्शन' के इस विभाग को तैयार करते समय साधन उपलब्ध नहीं हुए। जनसंघ के अभिलेख, जनसंघ के महामंत्री के नाते पंडित दीनदयाल जी द्वारा किया गया पत्राचार, प्रकाशित पत्रक, कार्यकर्ताओं के सामने दिये गये उनके भाषणों का संकलन, उनके मित्रों तथा सहयोगियों द्वारा बताये गये संस्मरण आदि सारी संदर्भ-सामग्री इसके लिये आवश्यक थी। किन्तु सन् १९७५ की आपातस्थिति के कारण सब कुछ तितर-बितर हो गया, जनसंघ दल के नेताओं को कारावास में बंद कर दिया गया, छापे मारे गये, डायरियाँ तथा पत्राचार पुलिस जब्त कर ले गयी और फलस्वरूप एक भूचाल के बाद पायी जाने वाली विनाश-लीला इस सामग्री के भाग्य में भी आयी। अतः यह ग्रंथ लिखते समय संदर्भ के लिये बनी-बनायी सामग्री मिली नही। सन् ४७ से ६८ तक के कालखण्ड की 'आर्गनाइजर' तथा 'पांचजन्य' की संचियाँ (files) ही अतीत के वृत्तान्त की पुनर्रचना का आधार थीं। दीनदयाल जी के सहयोगियों तथा मित्रों से हम मिले। दीनदयाल शोध संस्थान ने कुछ साहित्य एकत्रित किया है। वह हमें देखने को मिला। इसके अतिरिक्त जनसंघ के प्रकाशन, उसकी सभी प्रकाशित पुस्तकों आदि सारी संदर्भ-सामग्री का उपयोग कर यह ग्रंथ लिखा गया है।

आदरणीय सर्वश्री बालासाहब देवरस, राजेन्द्र सिंह जी, दत्तोपंत जी ठेंगड़ी, भाऊराव देवरस, बापूराव मोघे, आदि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेताओं के साथ हमने चर्चा की। जनसंघ से संबंधित सर्वश्री नानाजी देशमुख, लालकृष्ण आडवाणी, बलराज मधोक, वैद्य गुरुदत्त, सुन्दर सिंह भण्डारी, वसंतराव ओक, जगदीश प्रसाद माथुर, डॉ. मुरली मनोहर जोशी, स्वर्गीय रामदास कलसकर आदि नेताओं ने पंडित दीनदयाल जी के राजनीतिक कार्य की अपने अनुभव पर आधारित जानकारी दी। दीनदयाल जी के प्रत्यक्ष सहवास में रहे श्री के.आर. मलकानी, विश्वनाथ लिमये, श्री तिवारी आदि ने भी उनके कुछ संस्मरण बताये। सर्वश्री बापूराव लेले, चमन लाल, भानुप्रताप शुक्ल, महेशचन्द्र शर्मा, आदि ने संदर्भ-सामग्री उपलब्ध करा दी। दीनदयाल शोध संस्थान का सहयोग बहुमूल्य है। श्री नानाजी देशमुख ने भी इस मामले में बड़ी सहायता की। इस संस्था के संचालक श्री देवेन्द्र स्वरूप, ग्रंथपाल जनार्दनन् ने संदर्भ-सामग्री बड़ी ही आत्मीयता से उपलब्ध करायी। आर्गेनाइजर के सम्पादक श्री भाटिया, तथा पांचजन्य के सम्पादक श्री प्रवाल मैत्र ने अपने पुराने अंकों के खण्ड देकर जानकारी का कोष ही हमें उपलब्ध करा दिया। इन सबको हार्दिक धन्यवाद। श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने जो मार्गदर्शन किया उसके लिये हम उनके ऋणी हैं। इन सब लोगों से मिलकर तथा उनकी बातचीत द्वारा पंडित दीनदयाल जी के विचार एवं व्यक्तित्व को समझने में बहुमूल्य सहायता मिली और प्रारंभ में कठिन प्रतीत होने वाला काम सरल होता गया।

इस उपक्रम के संयोजक-संपादक श्री वि.वा. नेने ने पंडित दीनदयाल जी की राजनीति का अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया, इसके लिये हम उनके भी आभारी हैं।

नयी दिल्ली —भा.कृ. केलकर

अनुक्रमणिका

१.	संघ-विचार का बीज	९
२.	जनसंघ की जन्म-कथा	२४
३.	जनसंघ का राष्ट्रीय जीवन-दर्शन	४०
४.	दीनदयाल एक मूलगामी विचारक	४७
५.	दल-संगठक दीनदयाल जी	६२
६.	जन-आंदोलन	७५
७.	चुनाव के अखाड़े में	८३
८.	राष्ट्रवादी राजनीति के तत्त्वचिन्तक	१००
९.	दीनदयाल जी का रिक्थ (विरासत)	११४
	लेखक-परिचय	१२०

१.
संघ-विचार का बीज

स्वतंत्रता के बाद हमारी राजनीति का रूप बदल गया। स्वतंत्रता संग्राम में विविध विचारधाराओं के नेता एवं अनुयायी २५ वर्ष तक महात्मा गांधी के नेतृत्व में एकत्रित हुए थे। गांधी जी का विरोध करते हुए अपने नेतृत्व एवं विचार प्रस्थापित करने का भी प्रयास हुआ। मानवेन्द्र राय, सुभाषचन्द्र बोस, स्वातंत्र्यवीर सावरकर, इनमें प्रमुख थे। किन्तु १९४२ के आंदोलन के बाद भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम में क्रांतिकारी मोड़ आ गया। गांधी जी का नेतृत्व पुनः प्रतिष्ठापित हुआ। उसके बाद राजनीति का घटनाचक्र तेजी से घूमता गया। देश का विभाजन हुआ। विभाजन के बाद अनेक प्रश्न खड़े हुए। रियासतों का विलीनीकरण हो गया। उत्तरार्धिकारी एवं संक्रमण दल के रूप में अंग्रेजों ने कांग्रेस को सत्ता सौंप दी थी। किन्तु उसके बाद सत्ता से ही चिपके रहने तथा सत्ता को अपने हाथ में केन्द्रित करने की प्रवृत्ति कांग्रेस में उत्पन्न हुई स्वतंत्रता से पहले ब्रिटिश सत्ता ही हमारी दरिद्रता, बेकारी, हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष आदि समस्याओं का मूल है, ऐसे बहुत सरल तर्क भारतीय नेता दिया करते थे। उसमें सत्य तो था, किन्तु वह अर्धसत्य था। वास्तव में प्रखर ब्रिटिश-विरोध ही हमारी तत्कालीन राष्ट्रभक्ति का एकमात्र सूत्र था। परिणामस्वरूप हमारे राजनीतिक नेतृत्व का ढंग ही कुछ निराला सा हो गया था। अंग्रेजों के जाने के बाद जो राजनीति प्रारंभ हुई उसमें पुनर्रचना, सामाजिक तथा आर्थिक विचारधारा, राष्ट्र-निर्माण के प्रयत्न आदि के बारे में समुचित चिन्तन-मनन करके सुलझे हुए विचार तथा अपनी स्वतंत्र परिकल्पना रखने वाले राजनीतिक दल और नेता सामने आये।

सन् १९५० में भारतीय संविधान लागू हुआ और उसके अनुसार सन् १९५२ में पहला महानिर्वाचन (आम चुनाव) हुआ। १९५०-५२ के दो वर्षों में जो राजनीतिक नेतृत्व उदित हुआ वह कांग्रेस का प्रतिस्पर्धी बनकर राजनीति के अखाड़े में उतरा था। स्वतंत्रता-संघर्ष के दिनों में मुख्यतः कम्युनिस्ट, कामरेड राय, तथा स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने गैर कांग्रेसी दलों के रूप में ३ स्वतंत्र विचारधाराओं का नेतृत्व किया था। समाजवादी दल, किसान-मजदूर प्रजा पार्टी, भारतीय जनसंघ आदि ऐसे दल थे जिनके पास भारत की पुनर्रचना के बारे में अपना स्वतंत्र

चिन्तन था। भारतीय जनसंघ की स्थापना अक्तूबर १९५१ में हुई। उसके जन्म की कहानी अगले अध्याय में दी गयी है।

सन् १९५१ में पंडित दीनदयाल जी ने भारतीय जनसंघ के उत्तरप्रदेश के संगठनकर्ता मंत्री के रूप में राजनीति में प्रवेश किया। १९६८ में वे जनसंघ के अध्यक्ष बने। १९५१-६८ के १७ वर्षों में उन्होंने जनसंघ को उसके पैरों पर खड़ा किया। उनका १७ वर्ष का राजनीतिक जीवन एवं कार्य ही इस ग्रंथ का विषय है। किन्तु पंडित दीनदयाल जी सन् १९३८ से लेकर १९५१ तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता थे। जनसंघ में प्रवेश करने से पूर्व वे उत्तरप्रदेश में रा. स्व. संघ के सहप्रांत प्रचारक थे। उनके व्यक्तित्व की रचना तथा विचारधारा का बीजारोपण रा. स्व. संघ ने ही किया था। इसीलिये उनके राजनीतिक कार्य तथा नेतृत्व का अध्ययन करते समय संघ के विचार-बीज को पंडित दीनदयाल जी ने कैसे प्रस्तुत किया तथा संघ के स्वयंसेवक की उनकी अपनी एवं उन दिनों के सरसंघचालक श्री गुरुजी की संकल्पना क्या थी, इसे समझ लेना होगा। क्योंकि पंडित दीनदयाल जी की प्रारंभिक, वैचारिक तथा व्यक्तित्व की संरचना संघ ने की थी, उनके नेतृत्व का ताना-बाना भिन्न बना। उनकी वैचारिक प्रक्रिया तथा प्रतिक्रिया अन्य राजनीतिक नेताओं से भिन्न थी।

किंबहुना, यह कहा जा सकता है कि संघ के ढांचे में ढलकर बना नेतृत्व तथा व्यक्तित्व संघ से बाहर के जगत् में किस प्रकार फलता-फूलता है या उसके नये उन्मेष कैसे दिखाई देते हैं, इसका प्रयोग पंडित दीनदयाल जी को राजनीतिक क्षेत्र में देकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने किया। इसीलिये दीनदयाल जी सत्यशोधक एवं सृजनशील विचारक के रूप में राजनीति में आये, सत्ता-शोधक बनकर नहीं। उनकी भूमिका एवं उद्देश्य स्पष्ट थे।

संघ भी परिवर्तन चाहता है

स्वातंत्र्य-संघर्ष की समाप्ति के बाद भारत में जनतंत्रीय राजनीति का प्रारंभ हुआ। इस स्थिति-परिवर्तन के बारे में पंडित दीनदयाल जी ने संघ-कार्य करते हुए कुछ विचार प्रकट किये थे, जिनसे स्वतंत्रता के बाद की राजनीति में उनके द्वारा निभायी गयी भूमिका की वैचारिक पृष्ठभूमि का बोध होता है। जनसंघ की स्थापना से पूर्व उत्तरप्रदेश के सहप्रांत प्रचारक के नाते मेरठ में एक भाषण में दीनदयाल जी ने स्वतंत्रता साध्य नहीं, साधन है, और स्वाधीनता के बाद के काल में हमें कौन सा कार्य करना होगा, इन विषयों पर विचार रखे थे। उन्होंने कहा था, "एक आरोप सदैव लगाया जाता है कि संघ पुराणपंथी है, प्रगतिविरोधी है, या प्रतिक्रियावादी है। किन्तु सब जानते हैं कि विश्व में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसे परिवर्तन से शाश्वत तत्त्व नष्ट नहीं होते। हम भी नव-रचना चाहते हैं, किन्तु ऐसी नव-रचना के लिये शाश्वत तत्त्व को हम छोड़ना नहीं चाहते। हम जब तक जीवित हैं, गौरव के साथ जीना चाहते हैं। जीवन के शाश्वत तत्त्व का विकास करते हुए होने वाले सभी परिवर्तन हमें स्वीकार हैं। किन्तु हमारी अपनी पहिचान की अभिव्यक्ति भी हम संसार में करना चाहते हैं। उसकी रक्षा, विकास तथा उन्नति के लिए जो भी

अत्याधुनिक परिवर्तन आवश्यक होंगे हम करेंगे। ज्ञान, विज्ञान तथा संस्कृति, सभी क्षेत्रों में अपना विकास करने के लिए जो भी परिवर्तन करना आवश्यक हो, हम स्वीकार करेंगे। जैसे शरीर अपने पोषण के लिये, अपनी शक्ति के अनुसार अनेक बाह्य वस्तुओं को स्वीकार करता है, वैसा ही हम भी करेंगे। शरीर की त्वचा बदलती रहती है, किन्तु वह परिवर्तन स्वाभाविक रूप से होता है, अस्वाभाविक या कृत्रिम उपायों से नहीं। केवल नूतनता की चाह से शरीर में परिवर्तन करते रहना इष्ट नहीं होता। उसी प्रकार केवल नवीनता के पीछे पड़कर अपना शाश्वत तत्त्व छोड़ देना भी घातक होता है। हम वैसा नहीं करेंगे। वैसा करने से हमारा जीवन ही नष्ट हो जायेगा। हम नवीनता के विरोधी नहीं हैं। पुराणता के अभिमान के कारण हम अपनी रूढ़ियों या मृत परम्पराओं का संरक्षण करना नहीं चाहते। अपने मृत पिता या दादा का शरीर उनके प्रति असीम आदर रखते हुए भी हम संभाल कर नहीं रखते, उल्टे उसका दाह-संस्कार कर अस्थियों का भी विसर्जन कर देते हैं।

किन्तु नवीनता की चाह में अनेक विदेशी विचारधाराओं का हमारे देश में प्रवेश हो गया है। यह प्रवृत्ति हानिकर है। वे विचारधाराएं केवल विदेशी हैं इसीलिये हम उनका विरोध नहीं करते। प्रेम, सहयोग एवं सद्भावना से अपने जीवन के लिए अनेक बातों को हम विदेशों से सीख सकते हैं।" (पाञ्चजन्य) सारांश यह कि आधुनिक भारत को आधुनिक विश्व में जीना है, इसका भान रखकर उसकी मूल प्रकृति को स्थिर रखते हुए हमें परिवर्तन करने हैं, यह सूत्र संघ में रहते हुए ही पंडित दीनदयाल जी ने अपने मन में पक्का कर लिया था।

सांस्कृतिक स्वतंत्रता आवश्यक

भारत को स्वतंत्रता मिलने के बाद संघ का कार्य-क्षेत्र क्या हो, इसका उत्तर भी दीनदयाल जी ने दिया था। उनका वह भाषण 'पांचजन्य' के भाद्रपद कृष्ण ९, संवत् २००६ (अगस्त-सितम्बर, १९४७) के अंक में छपा है। स्पष्ट है कि वह जनसंघ की स्थापना से पहले का है। इस भाषण में दीनदयाल जी ने कहा था कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना व्यक्तित्व होता है तथा कुछ विशेष गुण होते हैं। उनके विकास के लिए स्वाधीनता आवश्यक होती है। आगे चलकर उन्होंने कहा था, "१५ अगस्त, १९४७ को हमने एक लड़ाई जीती है। अपने विकास के मार्ग के रोड़ों को दूर करने के लिए हमें स्वतंत्रता की आवश्यकता थी। अब हमारी आत्मानुभूति का मार्ग प्रशस्त हो गया है। अब मानव की प्रगति के लिए हमें सहायता करनी है। हमारा आत्मा अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर उठा। केवल इसलिए नहीं कि वे अंग्रेज थे, बल्कि इसलिए कि हमारे दैनिक जीवन में अंग्रेजी रीति-रिवाज तथा विदेशी दृष्टिकोण स्थिर होता जा रहा था। उसके कारण सारा वातावरण दूषित होने लगा था। अब अंग्रेजों के जाने के बाद उनके स्थान पर हमारे अपने रक्त-मांस के लोगों का राज्य आ गया है, इसका हमें हर्ष है। किन्तु अब हमारी अपेक्षा है कि जिस समाज ने उन लोगों को बनाया है, उसकी भावनाओं की धड़कनें उनके हृदय में उठनी चाहिए। उस समाज के लिए अनुकूल तथा उसकी

प्रकृति एवं स्वभाव के अनुरूप प्रणालियों के निर्माण का प्रयास उन्हें करना चाहिए। ऐसा नहीं होता है तो यही कहना होगा कि अब भी स्वतंत्रता की यह लड़ाई पूरी होनी है।

हमें आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता चाहिए। स्वतंत्रता में आत्मानुभूति का होना महत्त्वपूर्ण है। कारण यह है कि संस्कृति शरीर में प्राण की भांति राष्ट्र-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुभव की जा सकती है। प्रकृति पर विजय प्राप्त करते समय मानव अपनी जीवन-दृष्टि से जो रचना करता है उसमें उसकी संस्कृति दिखाई देती है। संस्कृति कभी भी गति-शून्य नहीं होती। नदी के प्रवाह की भांति वह गतिमान रहती है। उस प्रवाह के साथ ही उसके कतिपय गुण-विशेषों का भी निर्माण होता है। यह सांस्कृतिक दृष्टिकोण उसके साहित्य, कला, दर्शन, स्मृति-शास्त्र तथा सामाजिक इतिहास, सब में व्यक्त होता रहता है। हम स्वतंत्र हो गये हैं तो संस्कृति का यह प्रवाह फिर से बह निकलना चाहिए। राष्ट्रभक्ति की भावना भी इसी संस्कृति से उत्पन्न होती है और यही संस्कृति राष्ट्र की सीमाओं को लांघकर मानव-जाति के साथ उस राष्ट्र की एकात्मता का नाता जोड़ती है। इसलिये सांस्कृतिक स्वतंत्रता परमावश्यक है। उसके बिना स्वतंत्रता व्यर्थ होगी और वह टिकेगी भी नहीं।" (पांचजन्य, भाद्रपद, कृष्ण ९, संवत् २००६)

निरंकुश व्यक्ति-स्वातंत्र्य व तानाशाही

संघ के मंच से दीनदयाल जी ने यह भी कहा था कि "समाजवाद एवं मुक्त अर्थव्यवस्था, दोनों में तानाशाही का जन्म होता है।" उन्होंने कहा था, "हर व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार काम करे तथा उसकी आवश्यकताओं के अनुसार धन मिले, इसके लिए एक विचार-सम्प्रदाय का निर्माण पश्चिम में हुआ था। किन्तु इस सम्प्रदाय से ही तानाशाही का जन्म हुआ। कारण यह है कि इसमें गृहीत सिद्धांत मानव-स्वभाव के विपरीत है। काम कम करना पड़े और दाम अधिक मिले, यह मानवीय स्वभाव है। अतः वहाँ जनता की आवश्यकताओं को तानाशाही के मार्ग से कम किया जाता है। इसके विपरीत, भारतीय दर्शन स्वेच्छा से अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करने का पक्षधर है। संन्यासी की आवश्यकताएं कम होती हैं और समाज के लिए वह अधिक कष्ट उठाता है, अतः उसे अधिक सम्मान मिलता है। भारतीय परिवार में भी मुखिया अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम रखता है, किन्तु उसे सर्वाधिक सम्मान दिया जाता है। हम अपनी आवश्यकताओं को अवश्य पूरा करेंगे, किन्तु उनके दास नहीं बनेंगे।"

"सारांश यह कि केवल व्यक्तिवाद पूंजीपतियों की दासता को लाता है और केवल समाजवाद मानव के व्यक्तित्व को नष्ट करता है। भारत को इन दोनों सिद्धांतों का समन्वय चाहिए। वही भारतीय विचारधारा के अनुरूप होगा। इस प्रकार नव-निर्माण की उमंगों तथा अपने जीवन के शाश्वत तत्त्वों को हम अभारतीय तत्त्वों से बचा सकेंगे और दोनों को साध सकेंगे।' (पांचजन्य, आश्विन, कृष्ण, संवत् २००७)

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि वैचारिक दृष्टि से राजनीति में प्रत्यक्ष प्रवेश करने से पूर्व, स्वराज्य के बाद भारत की पुनर्रचना के प्रश्न पर पंडित दीनदयाल जी कितनी सुदृढ़ भूमिका पर खड़े थे और वह भूमिका राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा से उत्पन्न हुई थी।

हिन्दू विचार की अन्तःसलिला

पंडित दीनदयाल जी के समग्र राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन की नींव हिन्दू-विचार में थी। इस हिन्दू-विचार के संस्कार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में उन पर हुए थे। किंबहुना उनके राष्ट्र-विचार का निर्माण संघ-विचार ने ही किया था। दिल्ली में अपने अंतिम बौद्धिक वर्ग में उन्होंने राष्ट्रवाद का विश्लेषण एक मूलभूत विचार के रूप में प्रस्तुत किया था। इस व्याख्यान-वर्ग में श्री गुरुजी उपस्थित थे। दीनदयाल जी ने हिन्दू राष्ट्रवाद का विवेचन करते हुए कहा था, "हरेक बात का कोई न कोई केन्द्र-बिन्दु होता है। हमारी अवस्था कुछ ऐसी है कि हमारे पास पैसा है, विद्या है, बुद्धि भी है, शरीर में शक्ति है; किन्तु ये सब किस बात के लिए हैं यह बताने वाला केन्द्रीय सिद्धांत नहीं है। हमारे जीवन का केन्द्रीय तत्त्व क्या है ? किसी को पता नहीं। हम सबको जोड़ने वाला तत्त्व क्या है ? हरेक देश के लिए वह होता है। वह केन्द्र-बिन्दु राष्ट्र है। हमारे यहाँ राष्ट्र को केन्द्र-बिन्दु मानने के बजाय लोगों के सामने व्यक्ति को केन्द्र-बिन्दु के रूप में रखा गया। यहीं सब गड़बड़ हो गयी। लोग व्यक्तिनिष्ठ विचार करने लगे। फिर यह भी कहा गया कि हमें आर्थिक विकास के लिए काम करना है। आर्थिक विकास किसका करना है ? व्यक्ति का। इसलिए उसके रहन-सहन का स्तर उठाने का विचार सामने आया। राष्ट्र का रहन-सहन ऊँचा उठे तो व्यक्ति का अपने आप उठेगा, यह विचार किसी ने नहीं रखा।

आज आवश्यकता है इस बात की कि हम अपने जीवन का ध्येय-बिन्दु निश्चित करें। एक बार यह भलीभाँति समझ में आ गया कि यह ध्येय-बिन्दु क्या है, तो सब लोग उसी दिशा में चलने लगेंगे। उस ध्येय की ओर जाने के मार्ग अलग-अलग हो सकते हैं, किन्तु यह राष्ट्र हमारा है, यह देश हमारा है, यह विचार आज सबसे महत्त्व का है। एक बार यह निश्चय हो जाने पर कि राष्ट्र-देवता के मंदिर की ओर जाना है, बाकी सब बातें उस ध्येय-साधना के लिए अपने आप समंगत हो जायेंगी।

राष्ट्र क्या है ? क्या भारत यहाँ की केवल नदियाँ या पर्वत हैं ? हम लोग भारत के विचार को यहाँ के समाज का विचार मानते हैं। किन्तु हम जब कहते हैं कि सब लोग राष्ट्र के लिए विचार करें, तब यह भावना आन्तरिक होती है। हम अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ रहे थे, इसी आन्तरिक ऊर्मि के कारण। अंग्रेजों के चले जाने के बाद यहाँ का राज्य चलाने का दायित्व हम लोगों पर आया। किन्तु हम पर कहने का ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है ? किस पर ? इसका गंभीर विचार उन दिनों नहीं किया गया।

अंग्रेजों के जाने के बाद हमें राज्य मिला। किन्तु 'हमारा' राज्य माने किसका राज्य? इस देश का वंश-वृक्ष कौन सा है ? इस देश में राष्ट्रजीवन का निर्माण किसने किया? हमें एक सत्य को स्वीकारना पड़ेगा कि हमारा राष्ट्रजीवन, हिन्दू राष्ट्रजीवन है। और कोई यहाँ आता है तो उसे यहाँ हिन्दू राष्ट्रजीवन के साथ तालमेल ,रखकर चलना होगा। ऐसा करने के लिए मूल मानदण्ड क्या हो, यह निश्चित करना होगा। उसके बाद ही धन (Plus) तथा ऋण (Minus) की गणना की जा सकती है। ज्वर देखते समय हम तापमापी (थर्मामीटर) में देखते हैं। उसमें सामान्य की रेखा होती है। प्रत्यक्ष ताप उस रेखा के ऊपर है या नीचे ? ऐसी गणना हम करते हैं। उसी प्रकार भारत की मानक रेखा हिन्दू राष्ट्र ही है। यह सत्य सबको विदित है। कोई इसे प्रत्यक्ष रूप में कहे, न कहे, हमारा राष्ट्रसूत्र हिन्दूसूत्र है। इस समूचे देश को जोड़ने वाला यह सूत्र प्राचीन काल से यहाँ विद्यमान है।"

धर्म का विचार

राष्ट्रवाद की ही भांति दीनदयाल जी के समूचे राजकीय चिंतन में नैतिकता एवं धर्म की प्रधानता थी। उनकी मान्यता थी कि भारत एक धर्मप्रधान देश है। धर्म भारत का प्राण है, यह उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में हुए अपने भाषणों में स्वयं बताया है। उत्तरप्रदेश में अलीगढ़ में संघ की ओर से आयोजित भाषण में दीनदयाल जी ने कहा था, "भारत को अधार्मिक राष्ट्र (सैक्यूलर) घोषित कर देश के आत्मा पर प्रहार किया गया है। अधार्मिक राज्य में सदा दुःख ही दुःख रहता है। रावण की अधार्मिक लंका में सोना था, किन्तु राम-राज्य का निर्माण वहाँ नहीं हो सका।"

धर्म का विवेचन करते समय दीनदयाल जी कहा करते थे कि धर्म का अभिप्राय 'रिलीजन' नहीं है। धर्म का बहुत ही सुबोध विवेचन करते समय उन्होंने कहा था—"धर्म संघर्ष में नहीं, समझदारी में होता है। धर्म की सीख है कि एक का दूसरे से नाता समान स्वार्थ का नहीं, एक ही आत्मा का होता है। महाभारत में धर्म और अधर्म की बहुत ही सरल व्याख्या की गयी है। 'मम' अधर्म है, 'न मम' धर्म है। 'मेरा कुछ नहीं, सब तेरा है', यह धर्म की भावना होती है और 'सब कुछ मेरा है', यह अधर्म की धारणा होती है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने को केन्द्र मानकर सारे समाज का विचार करता है। संसार को सुखी करना हो तो 'न मम' की संकल्पना का विचार करना ही पड़ेगा। व्यक्ति की स्वतंत्रता और समाज का हित, दोनों का संकलित तालमेल बिठाना होगा। व्यक्ति स्वातंत्र्य अवश्य होना चाहिए। उस पर कोई बंधन न हो। किन्तु उस स्वतंत्रता का उपयोग मनुष्य केवल अपने लिए करता हो तो वह गलत होगा। व्यक्ति को अपने लिए नहीं, समाज के लिए जीना चाहिए। तभी वह समाज की सेवा कर सकेगा।"

हिन्दू धर्माधिष्ठित वैभव के लिये

राजस्थान में हुए एक बौद्धिक वर्ग (जून, १९६५) में दीनदयाल जी ने 'हिन्दू संगठन क्यों ?' विषय का विवेचन किया था। उन्होंने कहा—"संघ की विचारधारा में इस राष्ट्र को परम वैभव प्राप्त कराने की बात कही गयी है। इसका अर्थ यह है कि

इस वैभव को फिर से प्राप्त करने के लिए जो भी करना होगा तथा जो उसके उपयुक्त सिद्ध होगा, वही सब हम लोग करने वाले हैं। उसी प्रकार हम धर्म की रक्षा का भी उल्लेख करते हैं। फिर संघ को ठीक-ठीक क्या करना है ? संगठन, धर्म-रक्षा या राष्ट्र के लिए वैभव की प्राप्ति ? वस्तुतः ये सभी बातें एक दूसरे से जुड़ी हैं। प्रकाश के लिए बिजली चाहिए, किन्तु बिजली का दिया (बल्ब) भी चाहिए। हम परमात्मा से आशीष मांगते हैं कि हमारी संगठित कार्यशक्ति धर्म की रक्षा करते हुए राष्ट्र को परम वैभव की ओर ले जाये। इस एक वाक्य में सब कुछ समाया हुआ है।"

संघ एकात्मवादी है

"जब हमसे कोई पूछता है कि 'आप व्यक्तिवादी हैं या समाजवादी ?' तब मैं सदैव कहा करता हूँ कि हम दोनों का विचार करते हैं। हम पूर्णतावादी, एकात्मवादी, आत्मवादी तथा संघवादी हैं। हम सब एक चेतना एवं एक आत्मा को मानते हैं। हिन्दू समाज का संगठन करने का अर्थ यही है कि समाज में एक ही चैतन्य भर दें, तथा उसके एकात्म जीवन का विचार करें।" (उदयपुर में संघ-शिक्षा वर्ग में दिया गया भाषण—५ जून, १९६४)

व्यक्ति व समाज

संघ की विचारधारा में व्यक्ति और समाज के संबंध तथा व्यक्ति को समाजनिष्ठ ही रहना चाहिए—इस आग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दीनदयाल जी कहा करते थे कि व्यक्तित्व को नष्ट न करके उसे समाज के लिए समर्पित करना संघ की भूमिका है। व्यक्तिप्रधान राजनीति में पंडित दीनदयाल जी जैसा आत्मविलोपी नेतृत्व संघ की इसी भूमिका से निर्मित हुआ था। इसीलिए उनके इस विषय में विचार महत्त्वपूर्ण हैं। दीनदयाल जी कहते थे—"शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा का समेकित निवास है व्यक्ति। उसके सुख का अर्थ है इन सबका सुख। इनमें से किसी एक का ही विचार करें तो वह अपूर्ण विचार होगा। हमारे यहाँ तो पूर्वजन्म का भी विचार किया जाता है। अकेले व्यक्ति के सुख का विचार करते समय हम इन चारों घटकों का विचार करते हैं। उसी प्रकार समाज के सुख का विचार करते समय भी इन चारों बातों का भी विचार करना चाहिए। व्यक्ति के जन्म से ही उसका सुख समाज पर निर्भर होता है।"

व्यक्ति और समाज का पहला संबंध शिक्षण में आता है। भाषा पहले माँ सिखाती है। परन्तु वह भाषा माँ की नहीं, समाज की होती है। भले-बुरे संस्कार समाज के कारण होते हैं। स्तुति और निन्दा समाज करता है। दूसरी बात यह है कि सुख-दुःख केवल व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक भी हुआ करते हैं। व्यक्ति को चाहिए कि सामूहिक सुख-दुःख का विचार करना सीखे। कारण, हमारा आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास समाज के साथ जुड़ा है। भगवान के अवतार भी समाज के हित के लिए ही हुए हैं। कौरवपक्ष में एक से एक महारथी थे, किन्तु वे अलग-अलग व्यक्ति थे, समूह नहीं थे। पांडव एक थे। श्रीकृष्ण को उन्होंने अपना नेता माना था। वे सब समष्टिवादी थे। समष्टिवाद धर्म है। राष्ट्रवाद

धर्म है। उसके लिए कुछ भी करें, धर्म्य है। सैनिक मनुष्य को ही मारता है, परंतु उसे परमवीर चक्र दिया जाता है। किन्तु सामान्यतः कोई व्यक्ति नर-हत्या करे तो उसे फांसी मिलेगी। एक की कृति राष्ट्र के लिये है, दूसरे की अपने लिये; यह अन्तर है। हमारे यहाँ जनतंत्र है, इसलिये राजनीतिक दल हैं, किन्तु वे राष्ट्र के लिये हैं। हम राष्ट्र को भुला दें तो सब बातों का कोई मूल्य नहीं रहेगा। किन्तु इस राष्ट्र-भावना के संस्कार निरंतर देते रहने की आवश्यकता है। तभी राष्ट्र अपनी आँखों के सम्मुख होगा।

भारतीय तथा पाश्चात्य विचार

भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओं में जो अन्तर है उसे स्पष्ट करते समय पंडित दीनदयाल जी ने कहा था, भारत की सारी विचारधारा सहयोग एवं परस्परपूरकता को प्रधानता देती है। पश्चिमी लोगों की सारी विचारधारा संघर्ष पर आधारित है। स्पर्धा उनके जीवन का आधारभूत तत्त्व है। हमारी प्रत्येक सामाजिक संकल्पना व्यक्ति की पूर्णता का विचार करती है। पाश्चात्य विचारधारा में मनुष्य के शरीर का विचार प्रमुख माना जाता है। भारतीय विचारधारा में मनुष्य की बौद्धिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं को प्रधानता दी गयी है। पश्चिम का सारा बल संघर्ष पर है। व्यक्ति और समाज में संघर्ष के प्रसंग भी आ जाते हैं, किन्तु यह अवस्था स्वाभाविक नहीं होती, अपवादरूप होती है। वह धर्म नहीं, विकृति है।

मूल में संघर्ष का तत्त्व होने के कारण पश्चिमी विचारकों में भी दो धड़े हो गये हैं। एक धड़ा व्यक्ति को प्रमुख मानने वाले विचारकों का तथा दूसरा समाज को प्रमुखता देकर व्यक्ति को गौण मानने वालों का। पहले धड़े के विचारक समाजहित की मर्यादाओं के ऊपर व्यक्तिहित को बिठाते हैं। दूसरे धड़े के विचारक व्यक्तिहित तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य को पूर्ण रूप से नकारते हैं।

पाश्चात्यों की जीवन-रचना डार्विन के इस सिद्धांत पर की गयी है कि "अंत में बलवान ही जीवित रहता है"। इसके कारण स्वार्थ के लिए संघर्ष होता है। एक का दूसरे पर भरोसा नहीं होता। दो व्यक्ति आपस में संबंध रखते हैं तो इसीलिए कि उनका स्वार्थ समान होता है। राष्ट्र के साथ व्यक्ति के संबंध भी स्वार्थ पर ही आधारित होते हैं। इनकी धारणा है कि समान स्वार्थ वाले व्यक्तियों का राष्ट्र बनता है।

कर्तव्य की प्रेरणा

पश्चिम में हर व्यक्ति अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए प्रयत्नशील होता है। पति-पत्नी में अधिकार को लेकर झगड़े होते हैं। प्रेम-विवाह होते हैं, किन्तु संघर्ष चलता रहता है। वास्तव में जहाँ सच्चा प्रेम हो, वहाँ संघर्ष असंभव है।

हमारी प्रेरणा अधिकार की नहीं, कर्तव्य की होती है। कर्तव्यबोध पर हमने बल दिया है। फलस्वरूप हमारे यहाँ सेवा का विचार प्रधान होता है। उसके कारण आत्मीयता तथा सहिष्णुता की सामाजिक अनुभूति हमारे देश में मिलती है।

समाज के हर व्यक्ति के जीवन में समाज के साथ आत्मीयता का होना नितांत आवश्यक है। ऐसा होने से व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता, अपितु वह व्यावहारिक बनता है। मनुष्य सोचने लगे कि मैं समाज से अलग हूँ तो संघर्ष अवश्य होगा। सागर के पानी की भाप बनती है, उसके बादल बनते हैं और उनसे वर्षा होकर वह पानी फिर सागर में जा मिलता है। प्रकृति के इसी नियमानुसार मनुष्य का आचरण होना चाहिए। इसी नियम के कारण संसार टिका है। यह भावना पूरे समाज में व्याप्त हो जाये, तो मानवजीवन सुखी होगा और हमारे तत्त्वज्ञान का उपयोग जागतिक स्थिरता लाने के काम में हो सकेगा।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में सिखाया तथा संस्कारित किया जाने वाला यह सामाजिक विचार उपरिनिर्दिष्ट चिन्तन में सारांश रूप में व्यक्त हो गया है जिसे संक्षेप में 'व्यक्ति की सामाजिकता का दर्शन' कहा जा सकता है। दीनदयाल जी उसके भाष्यकार तो थे ही, मूर्तिमंत आदर्श भी थे। उनकी दृष्टि में यह व्यक्ति की आचार-संहिता थी। उसे उन्होंने अपने जीवन में लाकर दिखाया। इसीलिए श्री गुरुजी ने उनका गौरव करते समय उन्हें 'आदर्श स्वयंसेवक' कहा था।

चिरंतन स्वयंसेवकत्व

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकत्व की दीनदयाल जी की परिकल्पना क्या थी ? इसे उन्होंने 'स्वयंसेवक' विषय पर दिये अपने भाषण में स्पष्ट किया था। उन्होंने कहा था—"सामान्यतः स्वयंसेवक का अर्थ बिना मूल्य काम करने वाला मजदूर किया जाता है। अथवा एकाध कार्यक्रम के लिए इकट्ठे किये हुए वे कार्यकर्ता होते हैं। कार्यक्रम समाप्त होते ही उनका स्वयंसेवकत्व भी समाप्त हो जाता है। हमने समाज की पुनर्रचना के लिए स्वयंसेवकत्व को स्वीकारा है। हमने बहुत बड़ा कार्य अपने सिर पर लिया है। हमें समाज का संगठन करना है।

"हम अपने आपको हिन्दू कहते हैं, इसका अर्थ क्या है ? हमारी जीवन-पद्धति का नाम हिन्दू है। इसीलिए हमारा स्वयंसेवकत्व जीवनभर चलने वाला है, क्षणिक नहीं। डॉ. हेडगेवार ने समाज के लिए जीने वाले स्वयंसेवकों का निर्माण किया। हमारा हिन्दुत्व ही हमारा स्वयंसेवकत्व है। हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि लोगों को लगे कि हिन्दू ऐसा तेजस्वी होता है।" (नैरोबी में दीनदयाल जी का भाषण, १९६५)

आदर्श स्वयंसेवक

रा.स्व. संघ के सरसंघचालक और तत्त्वद्रष्टा श्री गुरुजी ने अपने ३३ वर्ष के कार्यकाल में समय-समय पर मार्गदर्शन किया है कि संघ का स्वयंसेवक कैसा हो तथा उसकी कार्य-पद्धति, स्वभाव, प्रेरणा आदि कैसी हों। उन विचारों का संकलन आगे किया है। उद्देश्य यह है कि 'आदर्श स्वयंसेवक' में कौन से गुण होने चाहिए, इसकी अधिकृत कल्पना समझ में आ सके। दीनदयाल जी का व्यक्तित्व संघ के संस्कारों से तथा संघ-विचार से साकार हुआ था। उसे समझने के लिए तथा उनकी गुण-सम्पदा क्या थी इसे जानने के लिए श्री गुरुजी के विचार उपयोगी होंगे।

शुद्ध चारित्र्य

"जिस प्रकार सिक्के दो पार्श्व (पहलू) होते हैं, उसी प्रकार हमारे जीवन के भी दो पक्ष (पहलू) हैं। एक पक्ष व्यक्तिगत चरित्र का है। यह शुद्ध होना चाहिए। दूसरा पक्ष राष्ट्र तथा समाज की दृष्टि से होने वाले हमारे व्यवहार का है। इसका अर्थ यह है कि अपने स्वार्थ को नियंत्रित कर, राष्ट्र को प्रधान मानकर उसके लिए अपने जीवन की सारी शक्ति और अनुकूल सभी बातें अर्पित करने की सदैव तत्परता तथा ऐसा करने में कितने ही कष्ट क्यों न हों, उन कष्टों में भी आनंद मानकर कार्य करने की क्षमता को अपने जीवन के नित्य व्यवहार में लाना। यह दूसरा पक्ष है। इसी को राष्ट्रीय चरित्र कहते हैं। जो व्यक्ति चरित्र के इन दोनों पक्षों से युक्त है वह अच्छा। रुपये के सिक्के का एक पार्श्व अच्छा हो और दूसरा घिसा हुआ या कटा-पिटा, तो वह रुपया खोटा होता है। बाजार में वह चलता नहीं। उसे चलाना चाहें तो कारागार जाना पड़ सकता है। इसीलिए हमारा चरित्र व्यक्तिगत शुद्धता तथा राष्ट्र-समर्पित जीवन-दृष्टि से परिपूर्ण होना चाहिए। ऐसे विशुद्ध मन में विशुद्ध धैर्य का संचार होता है, जो हमारे शरीर की शक्ति से जुड़कर हमारी कार्यशक्ति को प्रचण्ड बना देता है।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ५, पृष्ठ १६)

आंतरिक प्रेरणा से राष्ट्र-सेवा

"एक ध्येय तथा उसके लिए सामर्थ्य का संचय करने की दृष्टि से प्रतिदिन चलने वाले हमारे कार्य का स्वरूप, ये दो बातें हमारे सामने आयी हैं। यही संघ शब्द का भावार्थ है। इन दोनों को जोड़ने वाला शब्द है स्वयंसेवक। इस संघशक्ति के निर्माण का कार्य कौन करेगा ? किराये पर लाये हुए लोग क्या इसे कर सकेंगे ? किराये के टट्टू यह काम कदापि नहीं कर सकेंगे। अपने राष्ट्र पर जिसका नितांत प्रेम है और जो यह सोचता है कि यह मेरा समाज है, यह मेरा राष्ट्र है, यह मेरा धर्म है, यह मेरी संस्कृति है और यह मेरी मातृभूमि है तथा भगवान ने मुझे जो कुछ दिया है सब मैं इसी के लिए खर्च करूँगा, वही व्यक्ति यह कार्य कर सकेगा, किसी के कहने से नहीं, किसी के दबाव में आकर नहीं, या किसी प्रलोभन अथवा मोह का शिकार होकर नहीं। इसी प्रकार किसी बाह्य कारणवश यह काम करने की प्रेरणा मिलती है इसलिए भी नहीं, वरन् मातृभूमि, धर्म, राष्ट्र, समाज एवं समूचे राष्ट्रशरीर के बारे में मेरे अन्तःकरण में जो भक्ति है वही यह काम करने की मेरी प्रेरणा है, उसी आंतरिक प्रेरणा से मैं अपने राष्ट्र की सेवा करूँगा और वह सेवा इस प्रकार से करूँगा कि राष्ट्र का संगठित एवं अभेद्य सामर्थ्य सारे संसार को प्रतीत हो सके। इस प्रकार की अंतःप्रेरणा से कार्य करने की सिद्धता रखकर, अपने निहित स्वार्थों को नियंत्रित करता हुआ, कार्य करने के लिए जो आगे आता है, उसी को स्वयंसेवक कहा जाता है।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ५, पृष्ठ ११)

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या :

"इस भूमि को पवित्र मानने वाला, उसे अपनी माता, अपना पिता, रक्षक, गुरु, सर्वश्रेष्ठ एवं जगत् का मूलाधार मानने वाला उसका पुत्ररूप यह हिन्दू समाज

है। यही हिन्दू वैदिक काल से गर्व के साथ कहता आया है कि यह मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ—माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। इस हिन्दू समाजजीवन की विगत अनेक सदियों की अवस्था ध्यान में लें तो हमें दिखाई देगा कि हमारे देश के सभी छोटे-बड़े पंथों को समाहित किये हुए एक सर्वव्यापी धर्म और उस धर्म के अन्तर्गत संस्कारों से सुसंस्कृत बने अन्तःकरणों से निर्मित हुआ यह एक अत्यंत श्रेष्ठ, पवित्रतम जीवन-प्रवाह है जिसे हमारी संस्कृति कहा जाता है। वह हम सबके लिए समान है। हमारा एक इतिहास है। श्री रामचन्द्र आदि महापुरुषों से लेकर अर्वाचीन काल के श्रेष्ठ एवं त्यागमय जीवन व्यतीत करने वाले राष्ट्र-भक्तों तक एक ही मालिका हम सबके सम्मुख मार्गदर्शक के रूप में खड़ी है। इस मार्गदर्शक मालिका के सामने नत-मस्तक होकर जीवन के हर क्षेत्र में हम उनसे प्रेरणा प्राप्त करते हैं।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ५, पृष्ठ ६-७)

कर्मरत जीवन

"हमें सोचना चाहिए कि अपना आधुनिक जीवन जीते समय, अपने-अपने व्यवहार को संभालते हुए, अपनी राष्ट्र विषयक चिन्ता का हमारे अन्तःकरण पर कितना परिणाम दिखाई पड़ता है और उसके अनुसार हम कहाँ तक कृति करते हैं। हमारे अन्तःकरण में केवल तात्त्विक विचार ही हों और उन विचारों को हमने कर्म के साथ न जोड़ा हो तो वह विचार विफल होगा। इसी प्रकार केवल कार्य करते रहें और उसका कोई चिन्तन अन्तःकरण में न हो तो किया हुआ कर्म कई बार विकर्म बन जायेगा। इन दोनों प्रकार की विपदाओं को ठीक ढंग से ध्यान में लेते हुए योग्य विचार के साथ हमें अपने कर्मजीवन की रूपरेखा बनानी चाहिए। वह वैसी बनी है या नहीं, इसका विचार करना बहुत आवश्यक है।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृष्ठ २-३)

अनुशासनबद्ध जीवन

"अनुशासन के दो रूप हैं। पहला यह कि जिस प्रकार का आदेश हो, उसका पूर्ण रूप से पालन करना और दूसरा यह कि पालन करने वाले अनेक होने के कारण सबने एक साथ सूत्रबद्ध होकर उसका पालन करना। अर्थात् आदेश के एक रूप का व्यक्तिशः पालन करना तथा दूसरे का संघशः पालन करना।" (श्री गुरु जी : समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृष्ठ १४)

"अंतःकरण की व्यवस्थितता अनुशासन का मानसिक स्वरूप है। जब जो कार्य हम करते हैं उसका चिन्तन, मनन और सारी शक्तियों को उस पर केन्द्रित करने का मानसिक गुण हम में न हो तो बड़ी कठिनाई आयेगी। यह गुण हो तो शरीर से अनुचित व्यवहार नहीं होगा। इस दृष्टि से व्यक्तिगत एवं संघबद्ध जीवन में अनुशासन का यह गुण मन की गहराई तक पहुँचाना, मन को अव्यवस्थित न रखना और एकाग्रता से काम करने की प्रवृत्ति कैसी बढ़े, इसका अभ्यास स्वयं करना और दूसरों से भी करवाना आवश्यक होता है। तभी हमारे अनुशासन की कीर्ति ठीक होगी और उससे हमें यथार्थ संतोष प्राप्त करने का सौभाग्य मिलेगा।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृष्ठ १६)

"गुरुगृह में रहकर विद्या सम्पन्न करने के बाद शिष्य जब अपने घर लौटने के लिए सिद्ध होते हैं तो आचार्य उन्हें कुछ उपदेश देते हैं और कुछ सूचनाएं देते हैं। उस उपदेश को और उन सूचनाओं को एक उपनिषद् में 'इदं अनुशासनम्' कहा गया है। उसमें यह भी लिखा है कि जो सिद्धांतरूप धर्म है उस धर्म का आचरण करो। जो सत्य के अनुरूप हो उसका त्याग कभी मत करो, आदि। मौलिक सिद्धांत उसमें बताये गये हैं। किन्तु विशिष्ट प्रकार से ही आचरण करो, जिसे अंग्रेजी में 'रिजिडिटी' कहा गया है, ऐसा आदेश या उपदेश उसमें नहीं है। वहाँ केवल इतना ही कहा गया है कि हमारे शास्त्रों ने प्रत्येक बात में सही मार्ग-दर्शन किया हुआ है, उसका ध्यान रखो और कोई समस्या उपस्थित हो जाये तो जो श्रेष्ठ, निःस्वार्थ, तपः- पूत विद्वान हैं, उनके आचरण को देखो और उनके अनुसार व्यवहार करो। कोई विशेष नियमावली नहीं बतायी गयी है। बुद्धि को स्वातंत्र्य दिया हुआ है। इस स्वातंत्र्य का मौलिक सिद्धांतों के साथ समन्वय जोड़ दिया है और उसे ही अनुशासन कहा है। हमारे यहाँ अनुशासन शब्द में व्यक्तिस्वातंत्र्य, व्यक्ति का सूत्रबद्ध जीवन और समष्टि में उसका विलीनीकरण, दोनों का अन्तर्भाव है।"
(श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृष्ठ १७)

समाज में विलीन व्यक्तित्व

"हर व्यक्ति राष्ट्रभक्त, निरहंकारी, गुणसम्पन्न और समष्टि में व्यक्तित्व को विलीन करने की क्षमता वाला बने, यही आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति सैनिक ही बने। वह सैनिक, राजनयिक, व्यापारी, किसान, मैला उठाने वाला या और कुछ भी काम करने वाला बन सकता है। राष्ट्र की दृष्टि से सर्वगुणसम्पन्नता उसमें आ सकती है। इस प्रकार के लचीले अनुशासन के सूत्र में बद्ध रहते हुए अपनी स्वतंत्र प्रतिभा, रुचि व प्रकृति के अनुसार अपने विकास के लिए परिपूर्ण वातावरण तैयार करते हुए अपने व्यक्तित्व को समष्टि में ढालने का सत्संस्कार हृदय में नित्य जाग्रत रखकर व्यक्ति को आचरण करना चाहिए, यह आवश्यक है। यही अनुशासन है।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृष्ठ २१-२२)

निरहंकारी स्वभाव

"कभी-कभी अनजाने में अपने कार्य के लिए घातक अहंकार मन में घर कर जाता है। अहंकार बहुत ही दुष्ट वस्तु है। मुझमें कोई अहंकार नहीं, इसी बात का अहंकार हो जाता है। संत ज्ञानेश्वर ने कहा है कि यह अहंकार अज्ञान में रहने वाले लोगों के पीछे नहीं पड़ता, किन्तु अपने आपको ज्ञानी समझने वालों के कंधों पर वह अवश्य सवार हो जाता है और उन्हें गहरे संकट में डाल देता है।

नवल अहंकाराची गोठी। विशेषे न लगे अज्ञानापाठी।

सज्ञानाचे झोंबे कंठी। नाना संकटे नाचवी। (अध्याय १३, श्लोक ८२)

एक बार यह अहंकार छा गया तो उसके साथ ही सभी दुर्गुणों की सेना घुस आती है। यह अहंकार कब आकर सवार हो जायेगा, कहा नहीं जा सकता। इसके बारे में

अपने आपको कृतार्थ मानना या झूठा आत्मविश्वास रखना आत्मवंचना है। इसीलिए इन सब विकारों से मुक्त होने और मुक्त रहने के लिए हम सबको अपनी यह उपासना एकाग्र चित्त से चलाये रखनी चाहिए।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृष्ठ ४८-४९)

सच्चा ज्ञानी पुरुष

"ज्ञानी की व्याख्या है सर्वभूतहिते रतः। जो सब में अपने को देखता नहीं, सबके सुख के लिए छटपटाता नहीं, प्रयत्नशील रहता नहीं, कष्ट करता नहीं उसे हमने ज्ञानी नहीं माना है। हमारे राष्ट्र की प्रकृति को इन सभी गुणों ने ओतप्रोत कर दिया है। यह सारा हमारे लिए व्यवहार-शास्त्र है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि ऐहिक जीवन में कथित पारमार्थिक बातों का हस्तक्षेप न होने दें।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृष्ठ ५२)

"यह सोचना कि जो-जो पारमार्थिक है वह अव्यावहारिक है, उचित नहीं। इसीलिए हम कहते हैं कि हमारे यहाँ सिद्धांत रूप में निरूपित सभी श्रेष्ठ गुणों को हमें दैनिक जीवन में अपने अन्दर उतारना चाहिए और हमारे इस राष्ट्र के लिए एक विशुद्ध, धर्मपरायण, शुचिर्भूत, और राष्ट्र-सेवा में निरंतर निमग्न एक बृहत् समाजव्यापी शक्ति को व्यवहार में लाने के लिए हम सबको जुट जाना चाहिए। इसके लिए हम अपने व्यक्तिगत जीवन का अधिक से अधिक ध्यानपूर्वक निर्माण करें।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ४, पृष्ठ ५२)

संघ-कार्यकर्ता के गुण

संघ में कार्यकर्ताओं के निर्माण को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सामान्य व्यक्तियों को गुणसम्पन्न बनाकर उनमें नेतृत्व की क्षमता का निर्माण करना ही संघ का कार्य है। इस कार्य को कैसे करना चाहिए इसका विस्तृत विवेचन श्री गुरुजी ने विभिन्न बैठकों में अत्यंत रोचकता से किया है। उन्होंने कहा है:—

"जो निःसंग एवं निर्लेप है, जिसमें अहंकार नहीं है, जो धैर्यवान है, जिसके मन में आकांक्षा और उत्साह है, उसी प्रकार कर्म की सफलता से या असफलता से अथवा लाभ-हानि से जो विचलित नहीं होता उसे ही हमारे यहाँ सात्विक कार्यकर्ता कहा गया है।"

"उत्तम कार्य करने का अर्थ है, हम जनता के विश्वास-भाजन बनें। हमारा आचरण शुद्ध हो, तभी जनता हमारा विश्वास करेगी। हमारा व्यक्तिगत जीवन इतना निष्कलंक हो कि किसी के भी मन में सपने में भी हमारे प्रति कोई संदेह-निर्माण नहीं होना चाहिए। एक समय था जब हमारा यह समाज शील एवं चरित्र से सम्पन्न था। आज भी ग्रामीण प्रदेश में हमें इसी सत्शीलता के अनेक उदाहरण देखने को मिल जाते हैं।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ५, पृष्ठ ५३)

"ध्येय के साथ हम जितना एकरूप होंगे, उठते-बैठते, जागते-सोते, सदा सर्वकाल हमारे अन्तःकरण में अपने जीवन के इसी ध्येय का स्पन्दन चलता रहेगा तो हमारे शब्दों में सामर्थ्य आयेगा। हम जिनसे बात करेंगे वे हमारी बात मानेंगे।

जिसे हम कुछ करने के लिए कहेंगे, वह उसे करने के लिए तैयार हो जायेगा। किसी के सामने हम अपना सिद्धांत रखेंगे, तो वह उस सिद्धांत को स्वीकार करेगा। हमने लाख कहा, किन्तु हमारे सम्मुख जो बैठा है वह हमारे सिद्धांत को मान्य न करता हो, तो उसका अर्थ यह लेना चाहिए कि हमारी तपस्या कम पड़ी है, उसे बढ़ाना होगा। अपना ध्येयचिंतन कुछ कम पड़ गया है, दुर्बल हो गया है, उसे तेजस्वी और बलवान बनाना होगा। इस बात को हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। दूसरों को दोष न देकर हमारे अन्दर किस बात की त्रुटि है, इसका विचार करना चाहिए।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ५, पृष्ठ २२)

मधुर वाणी व स्नेह

"हमारी वाणी मधुर हो। सत्य और अच्छा किन्तु मधुर बोलना चाहिए। कटु सत्य नहीं बोलना चाहिए। यह नहीं कहना चाहिए कि मैं बहुत अक्खड़ आदमी हूँ और उद्दण्ड बातें करूँगा। सत्य तो बोलना चाहिए, किन्तु उसे ऐसे मीठे शब्दों में बोलना चाहिए कि सुनने वाले के हृदय में कोई चोट न पहुँचे और वह उस सत्य को सुन भी ले।"

"अब तक जो लोग हमारे सम्पर्क में नहीं आये हैं, उनके पास हमें जाना है। उनके साथ बातें करनी हैं। उनके साथ सहानुभूति तथा निश्छल स्नेह का व्यवहार हार्दिकता से प्रस्थापित करना है। उनमें और हम में एकात्म भाव व्यक्त होता रहे, ऐसी व्यवस्था का निर्माण हमें करना है। समाज के साथ जब हमारा सम्पर्क आता है तब हमें सोचना चाहिए कि हममें कुछ अवगुण हों तो समाज के विभिन्न लोगों के साथ हम उचित प्रकार से व्यवहार नहीं कर सकेंगे। उनके साथ बातें भी नहीं कर पायेंगे और उन पर हमारी बातों का कोई परिणाम भी नहीं होगा। इसीलिए हमें अपना व्यवहार अच्छा और स्नेहपूर्ण रखना होगा। सब प्रकार से सहायता करने एवं कष्ट झेलने के लिए नित्य तत्पर जीवन-पद्धति को स्वीकार करके हमें चलना होगा। तभी सब लोगों के अन्तःकरण में हमें स्थान मिलेगा और तभी अपने विचार सबके अन्तःकरण में उतार कर हम उन्हें अपने सहयोगी बनाकर काम में जुटा सकेंगे।" (श्री गुरुजी : समग्र दर्शन, खण्ड ५, पृष्ठ १९-२०)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्कारों से किस प्रकार के व्यक्तित्व आकार लें, इसका यह एक आदर्श आलेख है। दीनदयाल जी का व्यक्तित्व इसी आदर्श के अनुरूप साकार हुआ है। प्रख्यात ब्रिटिश राजनीतिशास्त्री प्रोफेसर हेराल्ड लास्की ने कहा था कि प्रजातंत्र की सच्ची समस्या अच्छे मनुष्यों की समस्या है। (The Problem of Democracy is the problem of good men.) लोगों की गुणसम्पन्नता पर प्रजातंत्र की सफलता निर्भर रहती है। ऐसे अच्छे एवं ध्येयवादी व्यक्तियों का निर्माण करने वाले रा.स्व. संघ जैसे संगठन से दीनदयाल जी ने राजनीति में प्रवेश किया था। फलस्वरूप जनसंघ को आकार देने के लिए आवश्यक संगठन-कौशल, क्रांतदर्शिता एवं कार्यकर्ता-निर्माण करने की प्रतिज्ञा साथ लेकर ही वे चले थे।

परिकल्पनाओं की चौखट

दीनदयाल जी का नेतृत्व भिन्न वैचारिक प्रवाह तथा भिन्न सामाजिक प्रेरणा से बना था। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से संघ-विचार का मूल्यमापन एवं चिकित्सा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। वह तो शोध एवं अध्ययन का एक स्वतंत्र विषय है। किन्तु दीनदयाल जी के राजनीतिक जीवन एवं व्यक्तित्व का अध्ययन करने से पूर्व उनके अन्तःस्रोत के रूप में संघ-विचार के मूल सिद्धांत क्या थे, इसे समझ लेने के लिए यह विवेचन केवल उदाहरण के रूप में किया है। संघ ने जहाँ अपनी कार्य-प्रणाली से कई व्यक्तियों के जीवन को आकार दिया और संस्कारित सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण किया, वहाँ व्यक्ति की वैचारिक संरचना भी की। यह स्पष्ट करने के लिए यह सारा विवेचन किया है। १९२५ से ५० तक के काल में संघ-विचार की एक परिभाषा बन गयी। उसमें से एक राष्ट्रीय एवं सामाजिक सैद्धांतिक दृष्टि विकसित हो गयी। दीनदयाल जी इसी संघ-विचार के प्रतीक थे। उनके द्वारा संघ में दिये गये बौद्धिकों के उपलब्ध प्रतिवेदनों से ही इन विचारों का संकलन किया गया है। चूँकि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का कालखण्ड ही दीनदयाल जी के इस संदर्भ में प्रासंगिक है, अतः उनके उसी समय के विचारों का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। परिकल्पनाओं की यह चौखट (Conceptual Frame) तथा संस्कारों से बना दीनदयाल जी का व्यक्तित्व उनके राजनीतिक जीवन एवं कार्य को समझ लेने के लिए आवश्यक हैं, इसीलिए उनकी चर्चा प्रारंभ में ही यहाँ की है।

२.

जनसंघ की जन्म-कथा

१५ अगस्त, १९४७। आधुनिक भारत के इतिहास का सुनहरा पृष्ठ उस दिन लिखा गया। किन्तु यह पृष्ठ रक्त-लांछित भी था। ब्रिटिश सत्ता से मुक्त होने का असीम आनंद और मातृभूमि के विभाजन का अपार दुःख भारतीय जनता उस दिन एक साथ अनुभव कर रही थी। सत्ता-हस्तांतरण के दिन गांधी जी कलकत्ता में थे। उन्होंने भारतीयों की इस मनोदशा को दिनांक १४ अगस्त, १९४७ को अपने भाषण में शब्दरूप दिया था। उन्होंने कहा—"कल से हम ब्रिटिश शासन के पाश से मुक्त होने वाले हैं, किन्तु आज मध्यरात्रि में भारत का विभाजन भी होने वाला है। अतः कल का दिन आनंदोत्सव का होगा और साथ ही दुःख का भी।" ('महात्मा' —डी.जी. तेंडुलकर, खण्ड ५, पृष्ठ १४)

अंग्रेजों ने प्रातिनिधिक उत्तराधिकारी दल के रूप में कांग्रेस को भारत की सार्वभौम सत्ता सौंप दी। वह एक ऐतिहासिक अपरिहार्यता थी। वस्तुतः कांग्रेस दादा भाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महात्मा गांधी, नेहरू जी, सुभाषचन्द्र बोस आदि राष्ट्रभक्तों द्वारा चलाया गया एक आंदोलन था। सत्ता प्राप्त होते ही कांग्रेस सत्ताधारी राजनीतिक दल बन गयी। स्वतंत्रता के लिए बनाये गये मोर्चे का रूपांतर दल में हो गया। राजनीतिक सत्ता प्राप्त होते ही लोकमानस की भाँति दलों का भी मानस बदला करता है। एक सिद्धांत के चारों ओर, प्रबल व्यक्तित्व के आस-पास राजनीतिक गुट खड़े हो जाते हैं। उनके दबाव-गुट बन जाते हैं। कांग्रेस का भी यही हाल हुआ। आंदोलन में त्याग की उमंग लेकर चले लोगों में भोग की लालसा उत्पन्न हो गयी। कांग्रेस सत्ता-प्राप्ति का साधन बन गयी। गांधी जी को कांग्रेस के इस परिवर्तन का भान था, इसीलिए उन्होंने उसे लोक सेवक संघ के रूप में बदल देने का परामर्श दिया था।

कांग्रेस में दो ही प्रभावी व्यक्तित्व थे, जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल। अतः स्वाभाविक रूप से इन दोनों के गुट बन गये। नेहरू जी तथा पटेल, दोनों भिन्न प्रकृति वाले व्यक्ति थे। नेहरू जी में पाश्चात्य उदारमतवाद तथा कम्युनिस्ट रूस का कम्युनिज्म प्रमुख राजनीतिक प्रेरणा के रूप में एकत्रित थे। उनका गांधीवाद

मात्र भावनात्मक था। एक प्रख्यात पत्रकार ने गांधी जी से पूछा कि आपने नेहरू जी को अपना उत्तराधिकारी क्यों चुना ? तो गांधी जी ने उत्तर दिया—"मेरे पक्ष में वे एकमात्र अंग्रेज हैं।" (दुर्गादास-'फ्राम कर्जन टु नेहरू') *

इसके अन्दर छिपी मार स्पष्ट है। स्वयं नेहरू जी ने भी अपने बारे में कुछ ऐसा ही कहा था। इसके विपरीत सरदार पटेल इस देश की परम्परा का सम्मान करने वाले लोहपुरुष एवं कर्मठ तथा संगठन-कुशल नेता थे। नेहरू जी प्रधानमंत्री तथा पटेल उपप्रधानमंत्री के रूप में साथ-साथ काम करते रहे। किन्तु सरदार पटेल एवं नेहरू जी दोनों कांग्रेस को अपने प्रभाव में लाने का भीतरी संघर्ष भी बराबर करते रहे।

इन दोनों में मतभिन्नता के जो विषय थे उनमें हिन्दुत्ववादियों के विषय में अपनायी जाने वाली नीति एक थी। नेहरू जी को हिन्दू शब्द से घृणा थी। हिन्दुत्ववादी लोगों के प्रति उनके मन में तिरस्कार की भावना थी, किन्तु इस विषय में सरदार पटेल अधिक उदार एवं विचारशील थे। सरदार पटेल ने रा.स्व. संघ के स्वयंसेवकों को 'वे देशभक्त हैं' कहकर कांग्रेस में आने का प्रकट निमंत्रण लखनऊ में ६ जून, १९४८ को हुई जनसभा में दिया था। उसमें उन्होंने कहा था कि कांग्रेस में जो लोग सत्ता में हैं वे सत्ता के बल पर संघ को कुचलने की आशा रखते हैं, किन्तु किसी भी संगठन को इस प्रकार बलपूर्वक कुचला नहीं जा सकता। डंडा चोरों के लिए होता है। रा.स्व. संघ के अनुयायी चोर या डकैत नहीं हैं। वे देश से असीम प्रेम करते हैं। केवल उनकी विचारधारा भिन्न है। कांग्रेसजनों को चाहिए कि संघवालों को प्रेम से जीत लें।' सरदार पटेल की संघ के प्रति यह धारणा थी। किन्तु गांधी जी की हत्या के कारण संघ को कुचलने का अवसर नेहरू जी के हाथ लगा, जिसका उन्होंने पूरा लाभ उठाया। इसका उल्लेख श्री काका साहेब गाडगिल ने एक लेख में

---

*Mahadev Desai : "Intellectually you and Bapu have an affinity which exists between few others."

Jawahar Lal Nehru : "That is so. But I lack the religious outlook. And I have a strange aloofness in me. This is why I have always thought that I did'nt feel at home In India. May be it is my education or upbringing but this is the result. Even when I am in crowds and work with people I cannot get over my loneliness. So very often I feel I cannot stand British Imperialism in India. But I hit off better with an Englishman than an Indian."

Mahadev Desai : "Bapu is nothing but Indian in his being and doings. And yet this outlook is so very modern. There are very few who have assimilated the best of the West as much as Bapu has."

(From Mainstream-22nd Annual Number, 1984)

किया था कि "गांधी जी की हत्या के बाद ३१ जनवरी और १ फरवरी, १९४८ को दिल्ली में राज्यपालो की बैठक हुई थी। सरदार पटेल उसमें उपस्थित थे। उनके कहने पर मैं भी इस बैठक में उपस्थित था। इस बैठक में हिन्दू महासभा तथा रा. स्व. संघ के बारे में कठोर नीति अपनाने का विचार व्यक्त किया गया था। दूसरे दिन मंत्रिपरिषद् की बैठक थी। इस प्रश्न के बारे में जब उस बैठक में चर्चा हुई तो मैंने कहा कि केवल हत्यारे एवं उनके सहयोगियों के प्रति ही कठोर नीति अपनानी चाहिए। हिन्दू सभा पर प्रतिबंध लगाने तथा उसके नेताओं को बन्दी बनाने से ऐसी धारणा फैलेगी कि हम राजनीतिक प्रतिस्पर्धा की भावना से काम कर रहे हैं। सरदार पटेल ने मेरी बात में पर्याप्त सार होने की बात को स्वीकारा था।" (काका साहेब गाडगिल का लेख—लोकसत्ता, बम्बई, दिनांक ८, जून १९६०) डा. अम्बेडकर उस समय विधि मंत्री थे। उन्होंने भी केवल नेहरू के आग्रह के कारण वीर सावरकर को गांधी-हत्या के मुकदमे में अभियुक्त के रूप में समेट लिया, ऐसी जानकारी उस समय श्री ल.ब. भोपटकर ने दिल्ली में दी थी। (काल, पुणे, २२ जून, १९८३) इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि हिन्दुत्ववादियों को नेहरू जी अपने पास लाना नहीं चाहते थे, तो सरदार पटेल उनके प्रति अपनत्व की भावना से काम लेना चाहते थे। कांग्रेस में डा. राजेन्द्र प्रसाद, कन्हैयालाल मुंशी, डा. सम्पूर्णानंद आदि नेता सरदार पटेल के पक्षधर थे तो नेहरू के पक्ष में मौलाना आजाद, रफी अहमद किदवई आदि नेता थे। इसीलिए नेहरू का उल्लेख करते समय सरदार पटेल उन्हें 'कांग्रेस में विद्यमान राष्ट्रीय मुसलमान' कहा करते थे, तो गांधी जी उन्हें 'अंग्रेज' कहते थे। फलस्वरूप नेहरू और पटेल के बीच का संघर्ष केवल दो व्यक्तियों का संघर्ष न रहकर दो दृष्टिकोणों का एवं प्रवृत्तियों का संघर्ष बन गया था। स्वाभाविकतः सरदार पटेल द्वारा हिन्दुत्ववादियों के प्रति दर्शायी गयी सहानुभूति केवल राजनीतिक गुटबाजी की चाल नहीं थी। उसका देश के भविष्य की दृष्टि से एक गहन अर्थ था। राजनीतिक ध्रुवीकरण की वह एक अवस्था थी।

गांधी-हत्या के बाद की गड़बड़ी

गांधी-हत्या हिन्दुत्ववादियों का सफाया करने का उत्तम राजनीतिक अवसर था। उससे लाभ उठाकर रा.स्व. संघ पर १९४८ में प्रतिबंध लगाया गया। इस प्रतिबंध-काल में जो कुछ हुआ वह एक बड़ा विषय है। संघ ने सत्याग्रह किया। लगभग ८० हजार स्वयंसेवक संघ पर लगे प्रतिबंध को तोड़कर कारागार गये। 'जनाधिकार-समिति' स्थापित की गयी और उसके बाद नागरिक-स्वतंत्रता के एक भाग के रूप में संघ पर लगा प्रतिबंध हटाने के लिए प्रबुद्ध जनमत संगठित करने का प्रयास किया गया।

जुलाई १९४९ में संघ पर लगा प्रतिबंध हटाया गया, किन्तु उससे पूर्व वार्ताओं तथा सरकार को वास्तविकता समझाने का सब प्रकार का प्रयत्न संघ नेताओं ने किया। एक प्रकार की विवशता सब लोग अनुभव करने लगे थे। फिर भी संघ के नेताओं ने संयम नहीं छोड़ा। संघ का सामान्य कार्यकर्ता हताश नहीं हुआ था। प्रतिबंधकाल में वरिष्ठ संघ-नेताओं में विचार-मंथन चल रहा था। दिल्ली के

'आर्गनाइजर' साप्ताहिक के नवम्बर-दिसम्बर १९५० के अंकों में, संघ को राजनीति में उतरना चाहिए, इस आशय के चार लेख 'कमल' नाम से श्री के.आर. मलकानी ने प्रकाशित किये थे। किन्तु उससे भी पूर्व अक्तूबर १९४९ में कांग्रेस की कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव द्वारा रा.स्व. संघ के स्वयंसेवकों के लिए कांग्रेस के द्वार खोल दिये थे। कांग्रेस सरकार द्वारा जनवरी १९४८ से २० मास तक चलाया गया संघ-विरोधी आंदोलन उसके साथ ही समाप्त हो गया। संघ ने राजनीति में प्रत्यक्ष रूप में कभी भाग नहीं लिया। कांग्रेस के साथ उसका वैर भी कभी नहीं था। संघ-स्थापना से पूर्व आद्य सरसंघचालक डा. हेडगेवार जी नागपुर प्रांत कांग्रेस समिति के सह-मंत्री थे। बाद में जंगल सत्याग्रह में उन्होंने अपनी टोली के साथ भाग लिया था। १९४२ के स्वतंत्रता-संग्राम में चिमूर में बलिदान हुए लोगों में संघ के स्वयंसेवक भी थे। (आर्गनाइजर, अग्रलेख, ११ अक्तूबर, १९४९) परन्तु १९४७ में राज्य-सत्ता प्राप्त होते ही कांग्रेस की संघ की ओर देखने की दृष्टि बदल गयी।

संघ तथा कांग्रेस

इस बीच अक्तूबर, १९४९ में कांग्रेस कार्यकारिणी द्वारा संघ के बारे में पारित प्रस्ताव के कारण राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी खलबली मच गयी। समाजवादी नेताओं को लगता था कि समाजवादी होने के नाते नेहरू के बाद सत्ता उत्तराधिकार के रूप में उन्हीं के हाथ आयेगी। स्वयं कांग्रेस में भी जो लोग संघविरोधी थे उन्हें सत्ता की स्पर्धा में दावेदार बढ़ने का दुःख था। कम्युनिस्टों की प्रतिक्रिया अपेक्षा के अनुरूप थी। संघ के स्वयंसेवकों को इस निर्णय के कारण विशेष हर्ष नहीं हुआ था। किन्तु संघ के विरोध में होने वाले अप-प्रचार की तीव्रता कुछ कम हो जायेगी तथा संघ और कांग्रेस के सहयोग से समाज-हित के कुछ कार्य किये जा सकेंगे, ऐसी आशा उन्हें होने लगी थी। 'आर्गनाइजर' ने लिखा था कि यह सत्य की असत्य पर, नैतिक शक्ति की शस्त्रशक्ति पर विजय है। (११ अक्तूबर, १९४९) कांग्रेस का उपर्युक्त प्रस्ताव नेहरू जी की अनुपस्थिति में पारित हुआ था। नेहरू जी ने विदेश से लौटते ही उस प्रस्ताव को बदलवा दिया। कारण, उन्हें भय था कि संघ-स्वयंसेवक यदि बड़ी संख्या में कांग्रेस में आ गये तो पटेल-गुट का वर्चस्व बढ़ जायेगा। संघ-नेताओं की इस विषय में क्या प्रतिक्रियाएं थीं? इसका उत्तर श्री बाबा साहब आप्टे के शब्दों में देना उचित होगा। उन्होंने कहा था, "जिनको बंद किया जा सकता है ऐसे कोई द्वार हमारे संगठन में हैं ही नहीं। द्वार ही क्यों? हमारे यहाँ तो दीवारें तक नहीं हैं। हम खुले मैदान पर खेलने वाले लोग हैं।" ('द आर.एस.एस. स्टोरी'—के.आर. मलकानी)

११ जुलाई, १९४९ को संघ पर से प्रतिबन्ध उठ गया। उसी दिन श्री वेंकटराम शास्त्री ने, जो मध्यस्थ थे, अंतिम पत्र भारत-सरकार को लिखा था। उसमें स्पष्ट शब्दों में कहा गया था कि संघ के स्वयंसेवक राजनीतिक दल बना सकते हैं। श्री शास्त्री ने लिखा था—"ये लोग यद्यपि कह रहे हैं कि हमारा संगठन अराजनीतिक है, एक ही रात में उसका रूपांतरण राजनीतिक संगठन में वे कर

सकते हैं, ऐसा विचार हाल ही में मैंने पढ़ा। यह तो सही है कि वे राजनीतिक दल बना सकते हैं, किन्तु मान लीजिए कि कल वे ऐसा करते भी हैं तो वह कोई अपराध नहीं होगा।"

"प्रतिबन्धकाल में संघ के वरिष्ठ नेताओं में भी प्रतिबन्ध न उठाये जाने पर राजनीतिक दल बनाने के विकल्प पर विचार चल रहा था। सरकार को भी इसकी भनक लग गयी थी और, संभव है, एक और राजनीतिक प्रतिस्पर्धी कम से कम स्वयं न बनाया जाय, इस विचार से संघ पर लगा प्रतिबन्ध बिना शर्त हटाया गया हो।"

फिर भी प्रतिबन्ध के समय में हिन्दुत्ववादियों और संघ के कार्यकर्ताओं को पर्याप्त उपद्रव का सामना करना पड़ा। इसकी प्रतिक्रिया को संघ के कार्यकर्ताओं ने भुलाया नहीं था। प्रतिबन्धकाल में अनगिनत स्वयंसेवक कारागार में गये थे। जो बाहर थे वे संघ का पक्ष लेकर जनाधिकार-समिति की स्थापना करते हुए या प्रत्यक्ष जन-संपर्क करते हुए संघ की भूमिका लोगों को समझाने का प्रयत्न करते थे। किन्तु उस समय समाचारपत्रों ने भी संघ के प्रति उदासीनता की भावना दर्शायी थी। तब संघ-कार्यकर्ताओं के ध्यान में आ गया था कि राजनीति में संघ के प्रति सहानुभूति दिखाने वाला कोई मित्र नहीं है। अधिक गहराई से तथा दूर का विचार करने वाले सोचने लगे थे कि गांधी जी के निधन के बाद भारतीय राजनीति में एक युग समाप्त हो रहा है और नये युग का आरंभ होने जा रहा है। ऐसे समय रा.स्व.संघ ने हिन्दुत्व का जो मूल विचार १९२५ से असंख्य कार्यकर्ताओं के बीच बोया है उसे देश की राजनीतिक विचारधारा में लाना चाहिए। इसके लिए अपना एक राजनीतिक दल होना चाहिए।

ऐसे राजनीतिक दल के दो उद्देश्य होने चाहिए। एक, भारतीय राजनीति में अभारतीय या भारतीयता-विरोधी जो संकल्पनाएं या निर्णय लिये जाये उनका विरोध करना और उसके लिए जनमत को संगठित करना। दूसरे, भारतीय जीवन-पद्धति पर आधारित भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पुनर्रचना करना, अर्थात् हिन्दुत्व पर आधारित विचारधारा तथा कार्य-प्रणाली को देश के सम्मुख रखकर जनतंत्रीय मार्ग से परिवर्तन के लिए शासन-सत्ता जीतने का प्रयास करना। इसका अर्थ स्पष्ट था कि ऐसा दल रा.स्व.संघ के राजनीतिक संरक्षण के लिए स्थापित मोर्चा नहीं होगा, बल्कि देश के सामने रचनात्मक विकल्प रखने वाला तथा उसके लिए राजनीतिक संगठन खड़ा करने वाला और हिन्दुत्व को जीवन-दर्शन मानने वाला वह राजनीतिक संगठन होगा। भारत की समस्याएं केवल राजनीतिक या आर्थिक नहीं हैं, वे सामाजिक तथा सांस्कृतिक भी हैं। भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म उसकी सांस्कृतिक एकता से हुआ है। इस देश के राष्ट्रीय जीवन का निर्माण हिन्दुओं ने किया है। अतः राष्ट्र के नाते उसकी सर्वांगीण पुनर्रचना की प्रक्रिया पश्चिम या अन्य किसी के अंधानकरण से न करते हुए अपने मूल्यों, अनुभवों तथा प्रतिभा पर अधिष्ठित विचारधारा के आधार पर होनी चाहिए। यह विचार रा.स्व.संघ के संस्कारों के कारण जिनके मन में दृढ़ हो गया था

ऐसे सैकड़ों कार्यक्षम, निष्ठावान, प्रज्ञावान स्वयंसेवक संघ में थे। दीनदयाल जी उन दिनों कारावास में थे। श्री वसन्तराव ओक दिल्ली के संघ-कार्य के मुख्य सूत्रधार थे। कारावास में उनके साथ की गयी चर्चा में भारत में धर्म-राज्य (Rule of Law) स्थापित होना चाहिए, यह एक और कल्पना दीनदयाल जी ने उसी समय रख दी थी।

स्वयंसेवकों का प्रकट विचार-मन्थन

इन स्वयंसेवकों की मानसिकता उस समय क्या थी, देश की स्थिति के बारे में उनके मन में क्या विचार उठते थे, इसकी कल्पना उस समय के समाचारपत्रों में प्रकाशित लेखों से की जा सकती है। 'आर्गनाइजर' के भूतपूर्व सम्पादक श्री के.आर. मलकानी, प्रोफेसर बलराज मधोक, रा.स्व.संघ के वरिष्ठ नेता श्री दादाराव परमार्थ आदि के लेखों का संदर्भ इस विषय में दिया जा सकता है।

'कमल' नाम से लिखे गये चार लेखों में उस समय की परिस्थिति का पूरा विश्लेषण हो गया था। अंतिम लेख में श्री केवल मलकानी ने लिखा था—"संघ के विरोध में कांग्रेस ने जो जेहाद प्रारम्भ किया था उसमें सरकार द्वारा किये गये दुष्कृत्यों के विरोध में किसी भी विधानसभा के एक भी प्रतिनिधि ने एक शब्द भी कभी नहीं कहा। भारत में जनतंत्र किस प्रकार चल रहा था, उसकी इससे अधिक मुखरित आलोचना और क्या हो सकती है! स्पष्ट है कि भारत में जनतंत्रीय परम्परा गर्भावस्था में ही मर चुकी थी। राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय परम्परा, नागरिक स्वतंत्रता आदि सारी बातें दल के वरिष्ठ नेताओं के प्रति दिखाई जाने वाली निष्ठा के सामने मूल्यहीन हो गयी हैं। दलीय सरकार भला-बुरा जैसा चाहे, मनमाने ढंग से राज्य कर सकती है। एकाधिकारवाद इस देश में प्रत्यक्ष रूप में आ चुका है।" संघ-विरोधी वातावरण का इस प्रकार वर्णन कर उस लेख में आगे कहा गया था—"संघ को केवल अपने संरक्षण के लिए नहीं, अपितु अभारतीय तथा भारतीयता-विरोधी सरकार की नीतियों पर अंकुश लगाने के लिए भी जनता के माध्यम से प्रयास करना होगा। आज सबसे महत्त्व का प्रश्न केवल आर्थिक या राजनीतिक न होकर विचारधारा एवं आदर्श का प्रश्न है। हमें बड़े-बड़े बाँध, कारखाने आदि अवश्य चाहिए, किन्तु आज सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि अपने प्राचीन आदर्शों के साथ सुसंगत जीवन-दर्शन इस देश को दिया जाय। राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए भारतीय आदर्शवाद की आवश्यकता है। पुनरुत्थान की यह तत्त्व-दृष्टि रही तो इस देश की सारी सुप्त शक्ति जाग्रत हो सकती है। इस प्रकार की क्रांतिक्षम तत्त्व-दृष्टि कांग्रेस के पास नहीं है। उसे देने में कांग्रेस असमर्थ है। इसलिए आज राजनीति केवल आत्मरक्षा के लिए नहीं चाहिए, अपितु भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों तथा भारत की राष्ट्रीय संस्कृति की जीवन-प्रणाली के आधार पर वर्तमान राजनीतिक-आर्थिक प्रश्नों का समाधान करने का मार्ग दिखाने के लिए भी वह अत्यंत आवश्यक है।" (आर्गनाइजर, १४ दिसम्बर, १९४९) इससे पूर्व ६ सितम्बर, १९४९ के आर्गनाइजर के अंक में श्री बलराज मधोक ने आग्रहपूर्वक लिखा था कि आज देश संघ की ओर नेतृत्व के लिए बड़ी आशा से देख रहा है और यह निर्णय लेने का अब समय आ गया है। इस लेख में

उन्होंने कहा था—"संघ ने राष्ट्र को परम वैभव प्राप्त कराने का लक्ष्य अपने सम्मुख रखा है। किन्तु राष्ट्र-जीवन का सर्वांगीण विचार तथा उद्धार किये बिना यह होना असम्भव है। आज लाखों स्वयंसेवकों को किसी भी राजनीतिक दल में जाने की छूट संघ ने अवश्य दे रखी है, किन्तु उन्हें इस देश में भारतीय आदर्शों एवं परम्पराओं को मानने वाला कोई भी ऐसा राजनीतिक दल दिखाई नहीं देता जिसमें वे जा सकते हैं। वे राजनीति से अलिप्त भी नहीं रह सकते। कारण यह है कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक मतदाता होता है और उसका देश की राजनीति के बारे में निश्चिन्त रहना संभव नहीं है। भारतीय संस्कृति के अधिष्ठान को मानने वाला राजनीतिक दल बने, तो सांस्कृतिक कार्य के लिए संघ के सदस्य रहकर स्वयंसेवक राजनीतिक रूप में ऐसे दल में प्रवेश कर सकेंगे। सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा समाजोद्धार के लिए संघ का अपना कार्य अनवरत चलता रह सकता है।"

संघ तथा भारत के राजनीतिक दल

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन मद्रास प्रान्त-प्रचारक श्री दादाराव परमार्थ ने एक लेख लिखकर देश के विविध राजनीतिक दलों के बारे में अपना विचार प्रकट किया था। यह कहते हुए कि कांग्रेस लोगों की आशाओं को पूरा करने में असमर्थ रही है और वह सत्ता पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करने वाला एक दल बन गया है, उन्होंने समाजवादी, कम्युनिस्ट, हिन्दू महासभा आदि दलों का भी वर्णन किया था और कहा था कि यह स्पर्धा चतुष्कोणीय है। रा.स्व.संघ इसमें तटस्थ रहेगा। किन्तु सब में संतुलन रखने के लिए सहायक होने वाली एक नैतिक शक्ति के रूप में कार्य करते हुए देश को गड़बड़ी एवं अराजकता से वह बचा लेगा। संघ की यह भूमिका ध्यान देने योग्य है। इसीलिए दादाराव का विचार था कि संघ को दलगत राजनीति से दूर ही रहना चाहिए।

संघ तथा राजनीति

१९४९ में संघ पर लगा प्रतिबन्ध उठने के बाद कांग्रेस का भी ध्यान इस ओर था कि अब रा.स्व.संघ क्या करता है? संघ ने प्रारंभ से ही राजनीति से अलिप्त रहने की भूमिका रखी थी। आद्य सरसंघचालक डा. हेडगेवार सम्बन्धी एक संस्मरण इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। गांधी जी के निकट सहयोगी श्री जमनालाल बजाज ३१ जनवरी, १९३४ को श्री हेडगेवार से मिलने गये। उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि संघ कांग्रेस के नियंत्रण में चलता रहे। तब डाक्टर जी ने विनम्रतापूर्वक उसने कहा, "रा.स्व.संघ ने अपने बलबूते पर स्वतंत्र रूप से अपना विकास करने का निर्णय किया है। वैसा मेरा आग्रह भी है। राष्ट्रजीवन के सभी पक्षों को ध्यान में ले सकने वाले और देश को अपने सामर्थ्य पर प्रगति के मार्ग पर आगे ले जाने वाले स्वयंसेवक तैयार करना मेरा उद्देश्य है। यह काम इस समय न तो कोई दल, न कोई राजनीतिक नेता ही कर सकता है।" (द आर.एस.एस. स्टोरी—के.आर. मलकानी)

राजनीति के बारे में सैद्धांतिक भूमिका

श्री गुरुजी को व्यक्तिशः भी सत्ता की राजनीति में कोई रुचि नहीं थी। इस संबंध में अपनी सैद्धांतिक भूमिका उन्होंने कई बार स्पष्ट रूप में रखी थी। वे

स्वयंसेवकों से कहा करते थे, "आजकल राजनीति के अतिरिक्त किसी को कुछ सूझता ही नहीं। हमने भुला दिया है कि राजनीति वास्तव में जीवन का एक छोटा सा अंग है। राजनीति से हमारा जीवन कहीं उच्च और विशाल है। जीवन का प्रमुख अंग राजनीति नहीं, संस्कृति है। भारतीय संस्कृति में राजनीति को भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने का एक छोटा सा विभाग माना गया है। राजनीति को ही सर्वव्यापी समझना भारतीय राष्ट्र का आत्मा-रहित विचार करने के समान है। जीवन में केवल राजनीति का वर्चस्व हो जाने से अनेक मतभेद और नाना पक्ष-प्रतिपक्ष उत्पन्न होते हैं और देश में असहिष्णुता फैलती है। ये सभी दल क्या कभी एक समान भूमिका पर आ सकते हैं? वास्तव में आज दूसरों के मत के प्रति आदर रखने की शुद्ध भावना ही नष्ट हो गयी है और केवल असहिष्णुता ही बढ़ने लगी है। 'हमारे दल में रहिए, अन्यथा शत्रु बनिए'—ऐसी अभारतीय प्रवृत्ति आज राजनीति के क्षेत्र में दिखाई देती है।" (समग्र दर्शन, खण्ड २, पृष्ठ ७५-७६)

संघ-शक्ति का राजनीतिक उपयोग?

कांग्रेस के अन्तर्गत संघर्ष के दो नेता थे, नेहरू तथा पटेल। सरदार पटेल स्वास्थ्य के कारण इस संघर्ष को हठपूर्वक चलाने में असमर्थ थे। गांधी-हत्या के लिए संघ को ही नहीं, सरदार पटेल को भी दोष दिया जाता था। संघ पर लगा प्रतिबन्ध हटने से कुछ ही दिन पूर्व श्री एकनाथ जी रानडे ने सरदार पटेल से भेंट की थी। श्री पटेल ने एकनाथ जी से कहा, "नेहरू के समान हमारे कुछ भाई-बन्धु भिन्न विचार वाले हैं। संगठन या संस्कृति आदि शब्द सुनते ही वे आपे से बाहर हो जाते हैं। यद्यपि यह सच है, यथासमय वे भी बदलेंगे। पते की बात तो यह है कि आप मेरे हाथ मजबूत करेंगे या नहीं?" अंत में सरदार पटेल ने कहा, "सर्वत्र अराजकता फैले, विधानसम्मत राज्य टूट जाये, ऐसा सोचने वाले कुछ निहित स्वार्थी लोग हैं। इसीलिए समान विचार के लोगों को एकत्र आकर कार्य करने की आज नितांत आवश्यकता है।" (द आर.एस.एस. स्टोरी—के.आर. मलकानी) ऐसे ही विचार सरदार पटेल ने श्री वसंतराव ओक के समक्ष भी व्यक्त किये थे।

इसका अर्थ यह हुआ कि सरदार पटेल को विश्वास था कि संघ भारतीय राजनीति को अभीष्ट मोड़ देने वाली शक्ति है। इसीलिए उनके पग उस दिशा में पड़ते थे। इसी का एक भाग था कि जब नेहरू विदेशों के दौरे पर थे, तब पटेल ने संघ के लिए कांग्रेस के द्वार खोल देने वाला प्रस्ताव पारित करवा लिया। उसकी चर्चा इस अध्याय के प्रारंभ में हम कर ही चुके हैं।

शक्ति की कसौटी

२७ अगस्त, १९५० के दिन कांग्रेस के अध्यक्ष का चुनाव होना था। पटेल गुट की ओर से इसके लिए बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन खड़े थे और शंकरराव देव को नेहरू गुट का समर्थन था। यह सामना शक्ति-परीक्षण का हो गया था। इसमें ध्येय तथा नीति को लेकर जो भेद था, अब स्पष्ट हो गया था। भारतीय मुसलमान, पाकिस्तान तथा कम्युनिस्टों का अनुरंजन करने वाली नीति पर नेहरू चल रहे थे, तो सरदार पटेल इस सम्बन्ध में दूरदर्शिता एवं विवेक की नीति अपनाने के पक्ष में

थे। टण्डन जी को हिन्दुत्ववादियों की सहानुभूति प्राप्त थी और 'टण्डन चुनकर आते हैं तो हम कांग्रेस छोड़ देंगे' की धमकी नेहरू जी ने दे रखी थी। किदवई को साथ लेकर नया राजनीतिक दल बनाने का विचार नेहरू जी ने कर लिया था। उसके लिए आवश्यक पोस्टर छपकर तैयार थे। टण्डन ही प्रचण्ड बहुमत से अध्यक्ष चुनकर आये। सरदार पटेल ने शक्ति-परीक्षण का यह उपक्रम जीत लिया। किन्तु दुर्भाग्य से सरदार पटेल का स्वास्थ्य उनके आदर्शवाद तथा जीवट का साथ नहीं दे पा रहा था। सरदार पटेल का देहान्त हुआ और कांग्रेस दल तथा सरकार दोनों नेहरू जी के वर्चस्व में आ गये। नेहरू सर्वेसर्वा बन गये। गांधी जी के निधन के बाद नेहरू जी यद्यपि उत्तराधिकारी बने, तो भी कांग्रेस संगठन पर उनका वर्चस्व नहीं था। सरदार पटेल ने टण्डन जी को कांग्रेस का अध्यक्ष निर्वाचित करवाकर अपना वर्चस्व सिद्ध कर दिया था। किन्तु पटेल के निधन के बाद हिन्दुत्ववाद राजनीतिक दृष्टि से अधिक निराधार हो गया। भारतीय राजनीति में एक नयी रिक्तता पैदा हो गयी। इसीलिए संघ के कुछ स्वयंसेवकों ने व्यक्तिशः राजनीतिक सेवा-क्षेत्र में प्रवेश करने का निर्णय लिया।

संघ का वैचारिक गोत्र

सारांश यह कि जनसंघ की स्थापना संघ के कुछ स्वयंसेवकों द्वारा अपने लिए राजनीतिक सेवा-क्षेत्र निश्चित करने की घटना थी। उसके लिए तात्कालिक कारण हिन्दुत्ववादी लोगों की घुटन भले ही क्यों न रही हो, मूलतः राजनीतिक तथा वैचारिक आवश्यकता से वह उत्पन्न हुई थी। संघ के वैचारिक गोत्र की परम्परा को मानने वाला, संघ के मूल्यों तथा निष्ठाओं में घुला हुआ, स्वयंसेवकों का एक वर्ग राजनीतिक क्षेत्र में नये युग का प्रारंभ करने के लिए अग्रसर हो गया। ऐसे स्वयंसेवकों का समुदाय ही जनसंघ था।

भारतीय राजनीति में नेहरू धर्मविहीन राष्ट्रवाद तथा ऐहिक मानववाद के बीज बोने में लगे थे। समाजवादी तथा कम्युनिस्ट लोगों का गोत्र इस विषय में नेहरू जी से मेल खाने वाला था। अतः हिन्दुत्ववादी लोगों पर साम्प्रदायिकता की मुहर लगाकर उनका राजनीतिक क्षेत्र से नामोनिशान मिटाने का प्रयास प्रारम्भ हो गया। भारतीय संस्कृति में जन्मा गांधीवाद तथा उनका आध्यात्मिक मानवतावाद अनाथ हो गया था। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद तथा हिन्दुत्व के विचार का राजनीतिक अस्तित्व नाममात्र का था। इनका प्रभाव सारे देश भर में फैलाना हो तो राजनीति में उनके लिए अपना एक मंच आवश्यक था। रा.स्व.संघ के बीज-विचार के संस्कार पाये अनेक कार्यकर्ताओं ने इस कार्य का दायित्व स्वयं लेने का निश्चय किया। राष्ट्रीय विचार-प्रवाह में संघ-विचार का यह राजनीति-प्रवेश था।

वैचारिक पृष्ठभूमि

दीनदयाल जी संघ के प्रमुख विचारकों में से एक थे। वे उन दिनों किन विचारों का प्रतिपादन करते थे, इसका उल्लेख पहले अध्याय में किया जा चुका है। उन दिनों संघ-कार्यकर्ताओं ने लखनऊ से 'राष्ट्रधर्म' मासिक पत्रिका का प्रकाशन

प्रारम्भ किया था। उसके पहले ही अंक में दीनदयाल जी का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक था—'भारत के राष्ट्र-जीवन की समस्याएं'। उसमें कहा गया था, "आज भारतीय जनता चार विचारधाराओं में बँट गयी है—एकसंस्कृतिवाद, द्विसंस्कृतिवाद, साम्प्रदायिकतावाद तथा बहुसंस्कृतिवाद।..... एकसंस्कृतिवाद का पक्ष राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे कांग्रेस-जन तथा अधिकांश भारतीय जनता लेती है। दूसरा पक्ष बहुसंस्कृतिवादियों का है। इसमें कम्युनिस्ट हैं। तीसरा पक्ष द्विसंस्कृतिवादी लोगों का है। कांग्रेस के कुछ नेता एवं मुस्लिम लीग आदि लोग इस पक्ष में हैं। चौथा पक्ष सम्प्रदायिकतावादियों का है। इसमें मुल्ला-मौलवी आते हैं। पंथ के आधार पर वे भारत की पुनर्रचना करना चाहते हैं। ये वर्ग वास्तव में चार प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं—अर्थवादी, राजनीतिवादी, सम्प्रदायवादी तथा संस्कृतिवादी। किन्तु भारत एक संस्कृति वाला राष्ट्र है। संस्कृति भारत की आत्मा है। हमारी संस्कृति ही भारतीयता का संरक्षण एवं विकास कर सकेगी।" (राष्ट्रधर्म, शरद-पूर्णिमा, संवत् २००६)

इस विवेचन का अर्थ यही था कि दीनदयाल जी का आग्रह सभी समस्याओं का समाधान खोजते समय देशभक्ति एवं संस्कृतिनिष्ठा को ही आधारभूत सिद्धांत मानने पर था।

एकदलीय जनतंत्र का संकट

भारत की राजनीतिक परिस्थिति को उन दिनों इस राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जा रहा था कि कांग्रेस केवल सत्तावादियों एवं अवसरवादियों का दल हो जायेगा। राजनीतिक विचारक चेतावनी दे रहे थे कि विरोधी दलों की धाक एवं साख न हो तो एकदलीय तानाशाही में ही उसका परिवर्तन हो जायेगा। एक ही दल अधिक समय तक सत्ता में रहा तो वह इस प्रकार व्यवहार करने लगेगा कि मानो राज्य करने का जन्मसिद्ध अधिकार उसे ही प्राप्त है।

गांधी जी का नैतिक दबाव

भारत की परिस्थिति का विचार गांधी जी के संदर्भ में किया जाना उन दिनों अपरिहार्य था। इसका कारण यह था कि गांधी जी के रूप में २८ वर्ष से अस्तित्व में रहा मार्गदर्शक प्रकाश लुप्त हो चुका था। इसीलिए गांधी जी के बताये मार्ग एवं उनके द्वारा निरंतर दी गयी सीख की स्मृति हो आना अपरिहार्य था। भारतीय परम्परा यह है कि स्वतंत्रता और स्वदेशी सरकार का अर्थ निरंकुश शासन न है, न होना चाहिए। नैतिकता का अनुशासन समाज तथा व्यक्ति दोनों को मानना चाहिए। साथ ही राज्य को भी उसे स्वीकार करना चाहिए। 'राम-राज्य' शब्द का व्यावहारिक अर्थ भी यही है। गांधी जी की परिकल्पना का राम-राज्य का आदर्श भी यही था। अन्तर्मुख होकर विचार करने वाले राजनीतिक नेता एवं विचारक उन दिनों यह प्रश्न उपस्थित करते थे कि क्या भारत की जनतंत्रीय सरकार ने उन आदर्शों को भुला दिया है? स्पष्ट है कि भारत की राजनीति पर कम से कम उन दिनों तो गांधी जी के नैतिक आदर्श का परोक्ष दबाव था।

सारांश, उन दिनों भारतीय राजनीतिक चिंतन के चार महत्त्वपूर्ण घटक थे—सांस्कृतिक भारतीयता, जनतंत्रीय मूल्य, गांधीवादी नैतिक मूल्य और मार्क्सवाद। इन्हीं के परिप्रेक्ष्य में भारत की पुनर्रचना का विचार किया जाता था। राजनीतिक दल इसके लिए नये माध्यम थे। सत्ता की राजनीति चिंतन का एक अपरिहार्य अंग होती है। उसका भी विचार किया जाना था। सत्ता भोगने या उसे प्राप्त करने का नया साधन कांग्रेस के रूप में कांग्रेसी नेताओं के हाथ लग गया था। समाज में भय फैल रहा था कि यह कांग्रेस निरंकुश, ध्येयहीन तथा नीतिशून्य बन गयी तो देश का अधःपतन तेजी से होगा। अतः कांग्रेस पर अंकुश रखने के लिए वैकल्पिक दलों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इन सभी कारणों से भारत के राष्ट्रीय जीवन में राजनीति एक महत्त्वपूर्ण घटक बन गयी। भारतीय जनसंघ की स्थापना की राजनीतिक पृष्ठभूमि यह है।

डाक्टर मुखर्जी की उलझन

स्वतंत्र भारत के प्रथम मंत्रिमंडल में गुणी जनों का समावेश किया जाना स्वाभाविक था। उसी दृष्टि से डाक्टर अम्बेडकर एवं डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी को नेहरूजी ने अपने मंत्रिमंडल में लिया था। ये दोनों स्वतंत्र व्यक्तित्व थे। नेहरूजी से इनकी वैचारिक दृष्टि से बात बनती नही थी और आगे चलकर कांग्रेस दल के हाथ में सत्ता आने के बाद मंत्रिमंडल में रहना इनके लिए असम्भव भी हो जाता। नेहरूजी के साथ इन दोनों के मतभेद उजागर होने लगे थे। मतभिन्नता के बिन्दु यद्यपि भिन्न थे, ये दोनों नेता कांग्रेस के ढाँचे में न समाने वाले थे। इसीलिए दोनों को मंत्रिपद का त्याग करना पड़ा। दोनों ने स्वतंत्र राजनीतिक दल बनाये।

डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी अविचल हिन्दुत्वनिष्ठ थे। वे हिन्दू महासभा के अध्यक्ष थे। उसके प्रतिनिधि के नाते ही वे मंत्रिमंडल में गये थे। कश्मीर एवं पूर्वी बंगाल के बारे में नेहरूजी की नीतियों से उनका मतभेद था। श्यामाप्रसाद मुखर्जी सत्तावादी नहीं, बल्कि सिद्धांतवादी जनतंत्रीय प्रवृत्ति के थे। परिणामतः जब पूर्वी बंगाल से हिन्दुओं का स्थानान्तरण हो रहा था तो असहाय बनकर झूठी निधर्मी नीतियों के आवरण में अपनी कायरता को छिपाने वाली भारत सरकार में वे रहना नहीं चाहते थे। विभाजन के समय डा. मुखर्जी ने पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं को आश्वासन दिया था कि आप लोगों के नागरिक अधिकारों पर यदि पाकिस्तान सरकार आघात करेगी तो स्वतंत्र भारत की सरकार हाथ पर हाथ रखकर बैठी नहीं रहेगी। किन्तु अब ठीक वही हो रहा था। इसलिए मंत्रिपद का त्याग करने के अतिरिक्त डाक्टर मुखर्जी के सामने दूसरा कोई चारा नहीं था। सरदार पटेल को उन्होंने दुखी एवं व्यथित हृदय से अपना यह विचार बता दिया। तब सरदार पटेल ने उनसे कहा—"मैं हैदराबाद के हिन्दुओं को तो बचा सका, किन्तु पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं का संरक्षण नही कर पा रहा हूं, इसका मुझे दुःख है। मेरी असमर्थता का कारण आप जानते ही हैं। किन्तु आपके चले जाने से मेरा पक्ष दुर्बल हो जायेगा।" (लेखक के साथ हुई चर्चा)

किन्तु सरदार पटेल केवल कांग्रेस की दृष्टि से तथा नेहरू-पटेल संघर्ष के

परिप्रेक्ष्य में ही सोच रहे थे। डा. मुखर्जी के लिए ऐसा विचार करना संभव नहीं था। सरदार पटेल के स्वास्थ्य को देखते हुए उनकी उत्सुकता समझ में आने वाली थी। किन्तु नेहरूजी के मन में हिन्दुत्व के प्रति जो तिरस्कार-भावना थी, उसे देखते हुए उनकी विकृत निधर्मिता से प्रत्यक्ष में दो-दो हाथ करना ही इष्ट था। कांग्रेस में जो हिन्दुत्ववादी थे उनकी आस्था 'पहले सत्ता बाद में हिन्दुत्व' कोटि की थी। इसलिए निर्भीकतापूर्वक हिन्दू हितों का पक्ष लेने वाला, किन्तु सभी भारतीयों के लिए खुला एवं जनतंत्र में आस्था रखने वाला दल बनाना ही डा. मुखर्जी के सामने एकमात्र मार्ग रह गया था। ऐसे नये दल की स्थापना का विचार उनके मन में आते ही उन्होंने दिनांक १९ अप्रैल, १९५० को अपने मंत्रिपद का त्यागपत्र दे दिया। उस दिन संसद् में निवेदन करते समय उन्होंने पूर्वी बंगाल के हिन्दू निर्वासितों की समस्या को अपने त्यागपत्र का मुख्य कारण बताया था। उससे पूर्व किया गया नेहरू-लियाकत समझौता भी हिन्दुओं के हितों के लिए बाधक था।

जिस दिन डा. मुखर्जी ने त्यागपत्र दिया, उसी दिन उनका दिल्ली के नागरिकों की ओर से अभिनंदन किया गया। दिल्ली के संघचालक लाला हंसराज गुप्त, संघ-प्रचारक श्री वसन्तराव ओक, पंजाब नेशनल बैंक के अध्यक्ष लाला योधराज आदि ने इस अभिनंदन-समारोह में पहल की थी। इस समारोह में डा. मुखर्जी को दिये गये मानपत्र में यह आशा व्यक्त की गयी थी कि इस समय देश को जैसे धैर्यशाली नेतृत्व की आवश्यकता है वह आपके रूप में उसे मिलेगा। इस संबंध में डा. मुखर्जी ने तब कोई आश्वासन नहीं दिया था।

डा. मुखर्जी संघ के कार्यकर्ताओं के साथ संपर्क रखे हुए थे ही। संघ-कार्यकर्ताओं में से जो लोग राजनीतिक दल की स्थापना में पहल करना चाहते थे उनका विचार था कि श्री मुखर्जी नये दल का नेतृत्व करें। मणिकांचन संयोग कब उपस्थित होता है इसकी बाट वे जोह रहे थे। तभी अखिल भारतीय दल की स्थापना करने का निर्णय लिया गया। उन दिनों संघ के कार्यकर्ताओं ने निश्चय किया था कि पहले अधिक से अधिक प्रान्तों में दल का काम प्रारम्भ किया जाय और बाद में अखिल भारतीय दल की स्थापना की जाय।

इस निर्णय के अनुसार, १९५१ में कलकत्ता तथा जालंधर में प्रादेशिक स्तर पर दल की स्थापना की गयी। नाम रखा गया—पीपुल्स पार्टी (भारतीय जनसंघ)। अध्यक्ष पद के लिए डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को चुना गया। नये दल का एक आठ सूत्री कार्यक्रम घोषित किया गया। उसमें अखण्ड भारत, पाकिस्तान के प्रति तुष्टीकरण की नीति के बजाय जैसे को तैसा वाली नीति अपनाना, भारत के हितों को प्रधानता देकर वास्तविकतावादी परराष्ट्र नीति पर चलना, पूर्वी बंगाल के विस्थापित लोगों का योजनाबद्ध रीति से पुनर्वास करना, सम्पूर्ण भारत का भारतीय संस्कृति के आधार पर सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन, सभी नागरिकों के लिए समान अधिकार, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए समाज के सभी घटकों के लिए विकास का समान अवसर प्रदान करना, तथा पश्चिमी बंगाल की सीमाओं का प्रशासकीय एवं आर्थिक दृष्टि से न्यायपूर्ण निर्धारण आदि बातों का इस कार्यक्रम में

समावेश था। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस दल ने यद्यपि प्रादेशिक समस्याओं को हाथ में लेने का निश्चय किया था, सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन एवं सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना की अखिल भारतीय दृष्टि भी उसने रखी थी।

प्रांतीय स्तर पर ही दल की स्थापना सन् ५१ में जालंधर में हुई। उसमें पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश तथा दिल्ली का समावेश था। इस क्षेत्र के लगभग दो सौ नेता एवं कार्यकर्ता दल के स्थापना-सम्मेलन में आये थे। विभाजन के बाद इतना बड़ा राजनीतिक सम्मेलन पहली बार हुआ था। समाज के सभी स्तरों तथा गुटों के प्रतिनिधि उसमें आये थे। सर्वसामान्य जनता की समस्याओं को रखने के लिए ही यह सम्मेलन बुलाया गया था। हिन्दू-सिख एकता एवं सत्तांध कांग्रेस का विरोध भी संयोजकों के मन में था। नये राजनीतिक दल के लिए रचनात्मक एवं प्रगतिशील सिद्धांत बनाना एवं एक प्रबल प्रतिपक्ष की संरचना करना उनका उद्देश्य था।

इसी प्रकार के प्रान्तीय सम्मेलन, उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश में जून-जुलाई १९५१ में किये गये। लखनऊ सम्मेलन में उत्तर प्रदेश जनसंघ के मंत्री के रूप में दीनदयाल जी की नियुक्ति हुई।

इस प्रकार लगभग सभी प्रान्तों में सम्मेलन सम्पन्न करने के बाद सभी सम्मेलनों के अध्यक्षों तथा मंत्रियों की एक बैठक दिल्ली में १९ सितम्बर, १९५१ को हुई। भारतीय जनसंघ की विधिवत स्थापना के लिए श्री बलराज मधोक को २१ अक्तूबर, १९५१ के दिन दिल्ली में बुलाये गये अधिवेशन का आमंत्रक मंत्री बनाया गया। २१ अक्तूबर के इस अधिवेशन से पूर्व विन्ध्यप्रदेश तथा असम को छोड़कर उत्तर तथा पूर्वी भाग के सभी प्रान्तों में प्रादेशिक जनसंघ की स्थापना की जा चुकी थी। इस प्रकार से जनसंघ की संरचना मूल से प्रारम्भ हुई, जो उसकी अपनी एक विशेषता थी। 'पहले शिखर बाद में नींव' वाली पद्धति न अपनाकर एक व्यापक नींव पहले तैयार की गयी और बाद में अखिल भारतीय दल की स्थापना की गयी।

देश के सभी स्थानों से आये कार्यकर्ताओं की स्वाभाविक इच्छा थी कि इस दल का नेतृत्व डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी करें। इसलिए उनसे विधिवत अनुरोध करने और आगामी कार्यक्रम निश्चित करने के लिए २१ अक्तूबर, १९५१ को संघ-नेता तथा राजनीतिक कार्यकर्ता उनसे मिले। (ए पोर्ट्रेट ऑफ ए मार्टिर', लेखक-बलराज मधोक, पृष्ठ १००-१०३) श्री मुखर्जी ने बड़ी विनम्रता से कहा, "आप मुझ पर बड़ा उत्तरदायित्व डाल रहे हैं। अपनी मातृभूमि की सेवा करने की भावना से मैं इस दायित्व को कर्तव्य-बुद्धि से निभाने का भरसक प्रयास करूंगा। किन्तु इसे स्वीकारने से पूर्व इस नये संगठन के स्वरूप के बारे में दो-एक बातें मैं अपने समाधान के लिए स्पष्ट कर लेना चाहता हूँ। पहली बात यह कि इस दल का अन्य राष्ट्रवादी दलों के साथ क्या संबंध रहेगा? यह स्पष्ट हो जाना चाहिए। दूसरी बात, भारत के प्रति एकनिष्ठ रहने वाले तथा उसकी संस्कृति पर श्रद्धा रखने वाले सभी भारतीय नागरिकों के लिए इस दल के द्वार खुले होने चाहिए, क्योंकि मेरी

परिकल्पना है कि यह दल सभी राष्ट्रवादी शक्तियों का केन्द्रीकरण करने वाला एक प्रभावशाली संगठन बने।" स्पष्ट है कि इस परिकल्पना के बारे में किसी का कोई मतभेद संभव ही नहीं था। फिर भी संघ के जो स्वयंसेवक इस दल का संगठन खड़ा करने जा रहे थे उनकी भूमिका उसी समय हुई एक भेंट में स्वयं श्री गुरुजी ने डा. मुखर्जी को स्पष्ट बतायी थी। डा. मुखर्जी की मृत्यु के बाद स्वयं श्री गुरुजी द्वारा १९५६ में 'आर्गनाइजर' में लिखे गये एक लेख में इसका विवरण दिया गया था। उसी को जनसंघ की स्थापना से पूर्व रा.स्व.संघ के साथ हुई वार्ता की विश्वसनीय रपट मानना होगा। (आर्गनाइजर, २५ जून, १९५६)

उस लेख में श्री गुरुजी ने कहा था, "मंत्रिपद का त्यागपत्र देकर सरकार से बाहर आने के बाद डा. मुखर्जी को विद्यमान दलों में से कोई भी दल सुविधाजनक नहीं लग रहा था। इसीलिए वे एक नये दल की स्थापना का विचार कर रहे थे। इसी संदर्भ में मेरी सम्मति एवं सहयोग लेने के लिए वे मुझसे मिले। क्योंकि विषय महत्त्वपूर्ण था, हम लोग बार-बार मिले और सभी संबंधित बातों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की। प्रारम्भ में ही मैंने श्री मुखर्जी को स्पष्ट शब्दों में बता दिया था कि रा.स्व.संघ को राजनीति के अखाड़े में उतारा नहीं जा सकेगा। राष्ट्र के सच्चे सांस्कृतिक पुनरुत्थान के कार्य में लगा कोई भी संगठन राजनीतिक दल के हाथ में कठपुतली बन गया, तो कभी सफल नहीं होगा और इसलिए संघ किसी भी राजनीतिक दल का वर्चस्व स्वीकार नहीं करेगा। उन्होंने हमारी भूमिका को ठीक प्रकार से समझ लिया था और यह भी स्वीकार किया था कि हमारी भूमिका बिल्कुल सही है। साथ ही डा. मुखर्जी ने यह भी स्पष्ट कहा था कि "नये दल को योग्य ढंग से विकसित होना हो, तो किसी अन्य संगठन के साथ द्वितीय श्रेणी का संबंध वह नहीं रख सकेगा।"

"रा.स्व.संघ और प्रस्तावित दल के संबंधों की आधारभूत बातों पर हमारे एकमत होने के बाद दूसरा विचारणीय महत्त्व का विषय था नये दल के आदर्शवाद का। रा.स्व.संघ का ध्येय, नीति एवं कार्य-प्रणाली पहले से ही निश्चित थी। अतः इस संगठन के किसी भी सदस्य का सहयोग लेना हो, तो उस राजनीतिक दल के आदर्शवाद में संघ के ध्येयों एवं नीतियों का प्रतिबिंब दिखाई देना आवश्यक था।"

"इस विषय में भी हमारा पूर्ण एकमत हो गया। एक पत्रकार-सम्मेलन में श्री मुखर्जी ने मत व्यक्त किया था कि हिन्दू महासभा का हिन्दू राष्ट्र में विश्वास होने के कारण वह साम्प्रदायिक है। इसका उल्लेख कर मैंने उनसे कहा कि रा.स्व.संघ मानता है कि भारतीय राष्ट्र हिन्दू राष्ट्र ही है, अतः हिन्दू महासभा के समान ही संघ को भी आपको दूर ही रखना चाहिए और ऐसा मानकर नहीं चलना चाहिए कि हिन्दू राष्ट्र की पुनःस्थापना करने का लक्ष्य सामने रखकर उसके लिए अथक प्रयास करने वाले मेरे सहयोगियों में से किसी की भी सहानुभूति या सहायता आपको मिलेगी। इस पर डा. मुखर्जी ने स्वीकार किया कि वह मत उन्होंने गलती से व्यक्त किया था। उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दू राष्ट्र की हमारी परिकल्पना उन्हें भी स्वीकार है। यह विचार व्यक्त करके कि भारतीय राष्ट्रीयत्व को सुस्पष्ट करने में हमारा संविधान

असफल रहा है, डा. मुखर्जी ने यह भी कहा था कि "हिन्दू राष्ट्र को फिर से एक बार परम वैभव प्राप्त कराने का ध्येय प्रजातंत्र की आधुनिक परिकल्पना के साथ विसंगत नहीं है। जब तक अहिन्दू समाज के लोग अराष्ट्रीय गतिविधियाँ नहीं करते, या सत्ता प्राप्त कर वैभवशाली मार्ग से इस राष्ट्र को पीछे खींच लाने का षड्यंत्र नहीं रचते, तब तक उन्हें पूरी नागरिक स्वतन्त्रता एवं राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में समान स्तर मिलने की गारंटी हिन्दू राष्ट्र की परिकल्पना में अभिप्रेत है।" नये राजनीतिक दल के नीति-विषयक प्रारूप में इस वस्तुस्थिति को प्रकट रूप में स्पष्ट करने की तैयारी भी डा. मुखर्जी ने दर्शायी।

"इस प्रकार जब हम एकमत हो गये तो मैंने अपने कुछ सहयोगी निष्ठावान तथा विश्वासपात्र कार्यकर्ताओं का चयन किया। नये दल की स्थापना करने का दायित्व निःस्वार्थ भावना एवं अविचल निष्ठा से निभा सकने वाले तथा अखिल भारतीय स्वरूप के लोकप्रिय राजनीतिक दल की व्यावहारिक एवं सुदृढ़ नींव डाल सकने वाले कार्यक्षम कार्यकर्ता मैंने डा. मुखर्जी को दिये और फिर उन्होंने भारतीय जनसंघ के नाम से नये दल की स्थापना कर अपनी महत्त्वाकांक्षा को साकार कर दिखाया।" इस लेख में आगे चलकर श्री गुरुजी ने लिखा था, "अपने कार्यकर्ताओं का एक दल डा. मुखर्जी को देने के बाद अपनी नीतियों के अनुसार मैं जनसंघ के आगामी सभी कार्यक्रमों से स्वयं अलिप्त रहा और हिन्दुओं का सांस्कृतिक संगठन खड़ा करने के अपने कार्य पर मैंने अपना सारा ध्यान केन्द्रित किया।" ('द आर.एस.एस. स्टोरी'–मलकानी)

मानसिक समाधान होने के बाद डा. मुखर्जी ने अत्यंत निष्ठापूर्वक अपना सब कुछ जनसंघ के निर्माण में लगा दिया। जनसंघ के उद्देश्य, कार्यक्रम आदि के बारे में चर्चा प्रारम्भ हुई। डा. मुखर्जी अविचल हिन्दुत्वनिष्ठ थे। उदारमतवादी भी थे। मंत्री के नाते काम करने का अनुभव तथा सरकार में रहने के कारण देश की स्थिति का सही ज्ञान एवं देश के सामने खड़ी समस्याओं का बोध उन्हें था। इन सब गुणों का लाभ जनसंघ को मिला। राजनीतिक क्षेत्र में नये दल को जन-समर्थन मिलना सामान्यतः कठिन होता है। किन्तु डा. मुखर्जी की ऊँचाई एवं व्यक्तित्व ऐसा था कि राजनीतिक प्रेक्षक अनुभव करने लगे कि जनसंघ एक सर्वथा भिन्न स्तर का दल बनेगा।

दिल्ली में भव्य अधिवेशन

दिल्ली में २१ अक्तबर, १९५१ को लगभग एक हजार नागरिकों की उपस्थिति में तथा अखिल भारत से आये ५०० कार्यकर्ताओं के समक्ष इस देश में नया राजनीतिक प्रवाह लाने के संकल्प से भारतीय जनसंघ की स्थापना की गयी। डा. मुखर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में अनेक प्रचलित प्रश्नों के बारे में जनसंघ की भूमिका को स्पष्ट किया।

पहले ही डा. मुखर्जी ने स्पष्ट कर दिया कि "आने वाले चुनाव के लिए जनसंघ की स्थापना नहीं की गयी है तथा कांग्रेस की केवल आलोचना करना भी हमारा उद्देश्य नहीं है। हमें एक सुखी एवं समृद्ध भारत का निर्माण करना है। कांग्रेस ने

लोगों को निराश किया है। प्रचण्ड सदिच्छाएं लेकर स्वतन्त्रता के बाद के काल में कांग्रेस ने अपना प्रवास प्रारम्भ किया था, किन्तु आज वह लोगों की सदिच्छाओं को गँवा बैठी है। कांग्रेस तानाशाही का संवर्धन करने वाला दल हो गया है। इसका कारण यह है कि उस पर नियंत्रण रख सकने वाला और स्वयं वैकल्पिक सरकार दे सकने वाला प्रतिपक्ष आज देश में नहीं है। आज जनसंघ का प्रारम्भ प्रमुख प्रतिपक्ष के नाते एक राजनीतिक दृष्टिकोण खड़ा करने के लिए हो रहा है।

"कांग्रेस ने धर्मनिरपेक्ष राजनीति के नाम पर मुस्लिम तुष्टीकरण की राजनीति आज भी चला रखी है। किंबहुना हिन्दुओं की भावनाओं को ठेस पहुँचाने में नेहरू आनंद मानते हैं। जनसंघ का स्पष्ट मत है कि प्रमुखता से हिन्दू-सिख-बौद्ध-ईसाई-मुसलमान आदि सबके लिए अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए भी कट्टर भारतीय बने रहना संभव है। भारतीय जनसंघ की दृढ़ श्रद्धा है कि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर श्रद्धा रखकर उनका सुयोग्य आदर करने से ही भारत का भविष्य उज्ज्वल हो सकेगा।"

अंत में श्री मुखर्जी ने कहा, "हमारा दृढ़ विश्वास है कि जनसंघ की स्थापना के साथ आशा का एक नया युग प्रारम्भ होगा। श्रद्धा, ध्येय एवं आशा को साथ लेकर हम अपना प्रवास प्रारम्भ कर रहे हैं। भारत की जीवनशक्ति को हमें पुनः जाग्रत करना है। भारत की पुनर्रचना का कार्य करना है। ये काम हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

राष्ट्र-जीवन की ओर देखने के भारतीय दृष्टिकोण तथा राष्ट्रवादी परम्परा को लेकर भारतीय जनसंघ ने भारतीय राजनीति में जन्म लिया। डा. मुखर्जी एक सुविद्य, सुसंस्कारित तथा कट्टर उदारमतवादी जनतंत्र पर श्रद्धा रखने वाले नेता थे। उनका नेतृत्व जनसंघ के यश की दुहाई दे रहा था।

३.
जनसंघ का राष्ट्रीय जीवनदर्शन

Political doctrines and social theories are deducted from a philosophy having a comprehensive view of life.

M.N. Roy (Politics, Party & Power)

भारत की राजनीति को नयी दिशा देने के लिए जनसंघ की स्थापना हुई थी। वह केवल सत्तावादी दल नहीं था। भारत की भूमि तथा उसकी संस्कृति के साथ नाता प्रस्थापित करने वाले दल के रूप में उसका स्वागत राजनीतिक समीक्षकों ने किया था। जनसंघ के निर्माता ने देश के सामने सबसे आवश्यक प्रश्न क्या है इसका तो विचार किया ही था, वे भारत को एक समग्र राष्ट्रीय जीवनदर्शन भी देना चाहते थे। श्री मानवेन्द्र नाथ राय ने कहा है कि राजनीतिक तत्त्वप्रणाली तथा सामाजिक सिद्धांत जीवन के सर्वस्पर्शी दर्शन से पैदा होते हैं। राजनीति तथा समाजनीति राष्ट्रजीवन के दो उपांग होते हैं। जनसंघ के निर्माताओं को इसका बोध था। इसीलिए राजनीति तथा सत्तानीति की अपेक्षा उन्होंने राष्ट्रनीति को प्रधानता देने का निश्चय किया था। उसके बाद राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति के सिद्धांतों और नीतियों का निर्धारण उन्होंने किया। यह उनकी विशेषता थी। इसे करते हुए उन्होंने प्राचीन मूल्यों का बोध रखा था और साथ ही, युग के साथ परिवर्तन की आवश्यकता को भी उन्होंने पहचाना था।

जनसंघ के राष्ट्रीय जीवनदर्शन के सूत्र क्या थे? प्रारम्भ में ही यह कहना होगा कि दीनदयाल जी प्रारम्भिक काल से ही जनसंघ के तत्त्वद्रष्टा थे। जनसंघ के विचारक, संगठक तथा प्रचारक, तीनों भूमिकाएं वे निभा रहे थे। अतः इस राष्ट्रीय जीवनदर्शन के सूत्र निश्चित करते समय दीनदयाल जी के मूलगामी एवं समन्वयकारी चिंतन का लाभ जनसंघ को मिला था। एकात्म मानववाद उसी का फल है। दीनदयाल जी ने 'जनसंघ क्यों?' शीर्षक लेख में (पांचजन्य २५, जनवरी, १९६०) जनसंघ के जन्म का उद्देश्य क्या था, इसकी चर्चा करते हुए लिखा था—"हमारा कार्य व्यक्तिगत हो या सामाजिक, उसका आधार जब तक धर्म नहीं बन जाता, मनुष्य की मूल प्रवृत्ति में न तो परिवर्तन होगा, न ही समाज की आवश्यकताओं तथा व्यक्ति की आकांक्षाओं में सामंजस्य-निर्माण किया जा

सकेगा। भारतीय सत्तारूढ़ दल हो या विपक्ष, दोनों ने आधारभूत सिद्धांत की उपेक्षा की है। इसीलिए भारतीय जनसंघ को इसी काम के लिए जन्म लेना पड़ा है। स्वधर्म और स्वराज्य एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ उपासना, पंथ या सम्प्रदाय आदि नहीं है। समाज की धारणा करने वाला दर्शन ही उसका अर्थ है। इसीलिए जनसंघ तात्कालिक सत्तानीति के लिए पैदा नहीं हुआ है। भारत के प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों का आधार लेकर युग के अनुकूल परिवर्तन वह करना चाहता है।"

संस्कृतिनिष्ठा

संस्कृतिनिष्ठा जनसंघ के राष्ट्रीय जीवनदर्शन का पहला सूत्र है। भारत प्राचीन राष्ट्र है। अंग्रेजों के आने से पूर्व भी वह राष्ट्र था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद केवल एक नया युग प्रारम्भ हुआ है; भारत में नये राष्ट्र का जन्म नहीं हुआ है। भारत की भूमि में रहने वाला और उसके प्रति ममत्व की भावना रखने वाला मानव-समूह एक जन है। उनकी जीवन-प्रणाली, कला, साहित्य, दर्शन, सब भारतीय संस्कृति हैं। भिन्न-भिन्न जाति तथा पंथों का एकरस स्वरूप ही भारतीय राष्ट्र है। भारत की अखण्डता की भाँति उसकी संस्कृति भी सम्मिश्र न होकर एकात्म है। इसीलिए भारतीय राष्ट्रवाद का आधार यह संस्कृति है। इस संस्कृति में निष्ठा रहे, तभी भारत एकात्म रहेगा। सारांश यह कि संस्कृति भारत-भूमि में राष्ट्रीय एकात्मता की नीव है।

दूसरा सूत्र यह है कि भारतीय संस्कृति की एकात्मवादिता के कारण भारत का जीवन-दृष्टिकोण भी एकात्मवादी है। इसीलिए मानव या समाज के विकास का विचार भी जनसंघ इसी दृष्टि से करता है। व्यक्ति-केन्द्रित एकांगी विकास का अथवा मानव को एक आर्थिक एवं राजनीतिक पशु मानने का पाश्चात्य विचार जनसंघ को स्वीकार नहीं। मनुष्य के शरीर-बुद्धि-आत्मा सबका विकास हो, तभी मानव का सम्पूर्ण विकास हो सकता है। यह पूर्णतावाद भारतीय जीवनदृष्टि का मुख्य विचार है।

तीसरा सूत्र है, व्यक्ति और समाज के हितों का विचार संघर्ष की दृष्टि से न करते हुए समन्वय की भावना से करें। व्यक्ति और समाज, क्योंकि परस्परावलंबी होते हैं, उनके संबंध भी परस्परपूरक, परस्परानुकूल तथा परस्पर सहयोग के ही होने चाहिए। सारा संसार इसी सिद्धांत पर चलता है। इसलिए जनसंघ वर्गवाद, साम्प्रदायिकता आदि को छोड़कर सर्वोत्कर्षवादी तथा सर्वात्मतावादी विचार करता है।

चौथा सूत्र है, व्यक्ति और समाज के संबंधों का। 'अहं' के साथ 'वयं'—'मैं' और 'हम'—दोनों का विचार आवश्यक है। व्यक्ति समाज का साधन है, ज्ञानतंतु है। व्यक्ति का नाश हो गया, तो समाज पंगु हो जायेगा। व्यक्ति की पूर्णता ही समाज की पूर्णता का माप है। इसीलिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य एवं समाजहित परस्पर विरोधी नहीं हैं।

पाँचवाँ सूत्र है, व्यक्ति के विकास के लिए भारतीय सामाजिक दर्शन में स्वीकार किये गये चारों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। समाज-धारणा के ये सिद्धांत धर्म में समाविष्ट हैं। यह धर्म सनातन है और व्यवहार में उसका रूपांतरण युग के साथ बदलता रहता है। इसीलिए धर्म ही समाज का नियंता है।

छठा सूत्र है, जनसंघ का यह विश्वास कि धर्मराज्य ही आदर्श राज्य हुआ करता है। किन्तु जनसंघ द्वारा सोचा गया धर्मराज्य एक असाम्प्रदायिक राज्य है, विधान का राज्य (Rule of Law) है। वह निरंकुश या तानाशाही राज्य नहीं, या प्रजातंत्रीय स्वैराचारी राज्य नहीं। वह तो अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य पर बल देने वाला राज्य है। केवल अधिकारों से उनकी और अधिक लालसा होती है। अधिकारों पर ही बल देने वाले राज्य में कर्तव्य की उपेक्षा की जाती है और अधिकार का मद चढ़ जाता है। उसमें से संघर्ष एवं स्पर्धा प्रारम्भ होती है। अधिकारमूलक राज्य के ये सब दुष्परिणाम हैं। कर्तव्यप्रधान धर्मराज्य में इन बातों का कोई स्थान नही होता। कर्तव्यप्रधान राज्य में भी शासन, न्यायसंस्था, लोकप्रतिनिधि-सभा, सब नियमानुसार ही चलते हैं। सभी व्यक्तियों तथा संस्थाओं पर केवल धर्म का बंधन होता है।

जनतंत्र में श्रद्धा जनसंघ के जीवन-दर्शन का सातवाँ सूत्र है। जनतंत्र लोगों के अधिकारों एवं प्रतिष्ठा को संरक्षण देने का साधन है। जनसंघ चाहता है कि न केवल राजनीतिक क्षेत्र में, अपितु आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी जनतंत्र होना चाहिए। वस्तुतः जनतंत्र एक अविभाज्य संकल्पना है। एक क्षेत्र में प्रजातंत्र न हो तो उसका परिणाम दूसरे क्षेत्र पर भी होता है। सहिष्णुता तथा व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं समाज के साथ समरसता, सब प्रजातंत्र के प्राण-तत्त्व हैं। इनके बिना जनतंत्र मात्र औपचारिक एवं निष्प्राण देह के समान होता है। लोगों में चेतना हो, तभी जनतंत्र का स्वरूप देश-काल-परिस्थिति के अनुसार बदल सकता है। प्रातिनिधिक जनतंत्र में अपने प्रतिनिधि चुनने का तथा प्रतिनिधित्व के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार प्रमुख तत्त्व माना जाता है। आर्थिक जनतंत्र के लिए व्यवसाय की स्वतंत्रता तथा ग्राहक का स्वातंत्र्य आधारभूत होते हैं। व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं अवसर की समानता सामाजिक जनतंत्र के आधारभूत तत्त्व हैं। हाँ, यह अवश्य देखना पड़ता है कि एक का अधिकार दूसरे के लिए पोषक हो, विनाशकारी न हो।

स्वतंत्रता केवल प्रजातंत्र का ही नहीं, मानव एवं राष्ट्र का भी प्राणतत्त्व है। जनतंत्र की भाति स्वातंत्र्य भी एक अविभाज्य संकल्पना है। राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना आर्थिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता असम्भव है। आर्थिक स्वतंत्रता न हो, तो राजनीतिक स्वतंत्रता एवं सामाजिक स्वतंत्रता का भोग मनुष्य नहीं कर सकेगा। सामाजिक स्वातंत्र्य न हो, तो अर्थ का अभाव तथा प्रभाव मानव को परतंत्र बना देगा। इसीलिए राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक, तीनों स्वतंत्रताओं की मनुष्य के लिए नितांत आवश्यकता होती है। सारांश यह कि स्वातंत्र्य जनसंघ के राष्ट्रीय जीवनदर्शन का आठवाँ सूत्र है।

जनसंघ ने इन आठ सूत्रों पर आधारित अपना राष्ट्रीय दर्शन प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीय प्रश्नों की ओर देखने की राष्ट्रीय तत्त्वदृष्टि (Approach) इसमें से विकसित हुई है और उसी से जनसंघ की नीति बनी है। दीनदयाल जी के अखण्ड राष्ट्रचिंतन, अध्ययन तथा समीक्षण से जनसंघ को मार्गदर्शन मिलता गया। जनसंघ का आर्थिक एवं सामाजिक दर्शन सार रूप में यहाँ दिया है। जनसंघ एक परिवर्तनवादी दल है। उस परिवर्तन का स्वरूप इससे स्पष्ट हो जायेगा तथा दीनदयाल जी की वैचारिक प्रेरणा को समझने में सहायता मिलेगी।

आर्थिक विचार

भारतीय जीवन-प्रणाली के अनुसार मूल्याधिष्ठित अर्थव्यवस्था का निर्माण जनसंघ की अर्थनीति का मुख्य उद्देश्य है। ऐसे नीति-निर्धारण में इस बात को ध्यान में लेना होगा कि भारतीय संस्कृति मानव को केवल अर्थपरायण जीवन नहीं मानती। इसीलिए विश्व में प्रचलित पूँजीवाद तथा कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्था को जनसंघ ने नकारा है। कारण यह है कि इन दोनों पद्धतियों का मूल एक ही है। एक प्रणाली में मनुष्य सम्पत्ति का दास हो जाता है तो दूसरी में अपना स्वातंत्र्य खोकर शासन-संस्था का दास। दोनों पद्धतियाँ मनुष्य को भौतिकवादी पशु बनाती हैं। इसीलिए दोनों में मानव उपेक्षित रहा है। इसके लिए जनसंघ ने एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था प्रस्तुत की जिसमें मानव की स्वतंत्रता तथा उसके व्यक्तित्व के विकास, दोनों का न केवल समर्थन और सुरक्षा है, अपितु दोनों को साध्य करने का अवसर भी।

यह उद्देश्य विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में ही साध्य किया जा सकता है। इसीलिए जनसंघ ने यह विचार रखा कि अर्थनीति का स्वरूप विकेन्द्रित ही होना चाहिए। जनतंत्र में अर्थ-सत्ता का केन्द्रीकरण मानव-स्वातंत्र्य के लिए खतरनाक होता है, अतः भौगोलिक एवं व्यावसायिक दोनों दृष्टियों से विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। ऐसा विकेन्द्रीकरण करते समय आधुनिकीकरण भी अपेक्षित है। आधुनिक विज्ञान की सहायता से सहकारी सिद्धांत पर छोटे-छोटे उपकरणों की सहायता से आधुनिक विकास करना चाहिए। बड़े उद्योगों को प्राथमिकताओं में अन्तिम स्थान देकर केवल उन्हीं उत्पादों के लिए लगाया जाना चाहिए जो छोटे स्तर पर बनाये ही नहीं जा सकते।

स्वदेशी व स्वावलम्बन

जनसंघ ने स्वदेशी तथा स्वावलम्बन देश की अर्थनीति के मार्गदर्शक सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किये हैं। उसका कहना है कि आधुनिकीकरण के नाम पर हमारे देश का पश्चिमीकरण हो रहा है। इस पश्चिमीकरण के साथ ही उपभोग की लालसा बढ़ रही है। फलस्वरूप सामाजिक समस्याएं तो उत्पन्न हुई ही हैं, आर्थिक क्षेत्र में भी अनिष्ट प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। हम अधिक परावलम्बी होते जा रहे हैं। इसीलिए स्वदेशी व स्वावलम्बन की दीक्षा पुनः देनी चाहिए। ऐसा करने से आवश्यक विदेशी पूँजी ही देश में आयेगी और उस पर निर्भर होने के मोह से हम बच सकेंगे।

नियोजन का सूत्र

राष्ट्र के सम्पत्ति-साधनों का न्यूनतम समय में अधिकतम उपयोग करने के लिए आर्थिक नियोजन की आवश्यकता है। किन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखना होगा कि योजना साधन है, साध्य नहीं। हमारी मूलभूत आस्था एवं मूल्यों की रक्षा करने वाली आर्थिक योजना हमें चाहिए। किंबहुना उनका संवर्धन करना हमारे आर्थिक नियोजन का लक्ष्य होना चाहिए। आर्थिक विकास की प्रेरणा केवल आर्थिक उद्देश्यों से प्राप्त नहीं होती। उसके लिए जनता में योजना को सफल बनाने की निष्ठा जाग्रत करनी पड़ती है।

भारत में आर्थिक नियोजन प्रजातंत्रीय प्रणाली के अनुरूप ही होना चाहिए। तभी प्रजातंत्रीय ढंग से उस पर अमल किया जा सकेगा। हमारी योजना के लक्ष्य होने चाहिए—राष्ट्रीय प्रतिरक्षा, सम्पूर्ण सेवायोजन (रोज़गार), सम्पत्ति की विषमता को घटाना, प्रत्येक परिवार के रहन-सहन के स्तर को उठाने का प्रयास करना आदि। खेती, उद्योग, व्यापार, समाजकल्याण आदि बातों का संतुलित विकास, इसके लिए उनका वरीयताक्रम निश्चित करना चाहिए।

सम्पत्ति के स्वामित्व के बारे में भी जनसंघ का अपना मौलिक चिंतन था। कुछ विचारधाराओं की मान्यता है कि निजी स्वामित्व एक निर्विवाद अधिकार है। इसके ठीक दूसरे छोर पर दूसरी विचार-प्रणाली भी है जो मानती है कि सम्पत्ति के साधनों का निजी स्वामित्व पूर्णतया नष्ट कर दिया जाना चाहिए। इनके अतिरिक्त एक तीसरी कल्पना भी है कि सभी सम्पत्ति ईश्वर की है और मनुष्य को एक 'न्यासी' बनकर उसका परिपालन करना चाहिए। न्यासी की कल्पना नैतिक विचार के नाते अच्छी है, किन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में यह प्रश्न शेष रहता ही है कि इस न्यासी पर किन नियमों का बन्धन हो और उनका निर्धारण कौन करे?

किन्तु यह भी सत्य है कि सम्पत्ति के कारण ही मनुष्य को प्रतिष्ठा मिलती है और सुरक्षा एवं संतोष की भावना उसके अन्दर निर्मित होती है। इसीलिए जनसंघ सम्पत्ति के अधिकार को पूर्णतः नष्ट करना नहीं चाहता। किन्तु उसका मानना है कि यह अधिकार समाज-सापेक्ष है और इसीलिए वह निर्विवाद तथा निरंकुश कभी नहीं रहता।

दूसरी बात यह है कि सम्पत्ति के बारे में हमारी नीति अपनी संस्कृति के आधार पर निश्चित की जानी चाहिए। व्यक्ति की आवश्यकताएँ उन मूल्यों के साथ जुड़ी होती हैं। इसीलिए सम्पत्ति की सीमा निर्धारित करते समय उन मूल्यों का विचार भी अवश्य होना चाहिए। सम्पत्ति विशाल हो, असीमित हो, तो मनुष्य आलसी तथा विलासी बनता है और वह न हो तो पराधीन। इसीलिए जनसंघ मानता है कि सम्पत्ति का नियमन आवश्यक है।

सामाजिक नीति

भारतीय जनता एक है, इस श्रद्धा से भारत की सामाजिक नीति का विचार करना होगा। इस आधारभूत एकता को दृढ़ करने के लिए प्रयास करने होंगे।

किन्तु इस एकता में बाधा उत्पन्न करने वाले ऊँच-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि के सामाजिक भेदभावों को नष्ट करने के लिए शैक्षणिक सुधार तथा आंदोलनात्मक कामों को हाथ में लेना अत्यंत आवश्यक है। जाति या वर्ग के आधार पर भेदभाव भी नहीं किये जाने चाहिए। सदियों से शिक्षा तथा संस्कारों में पिछड़े और दरिद्रता से पीड़ित लोगों को अपनी प्रगति के लिए विशेष सुविधाएं उपलब्ध करा देनी चाहिए। किन्तु साथ ही यह सावधानी भी बरतनी चाहिए कि पिछड़ापन स्वार्थ साधने का मार्ग न बने।

इसी प्रकार महिलाओं को सामाजिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में आगे लाने के लिए विशेष उद्योग प्रारम्भ किये जाने चाहिए, जिनके सहारे घर, समाज तथा राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों को वे भलीभांति निभा सकेंगी। समाज-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महिलाओं को समान अवसर मिलने चाहिए। दहेज तथा पर्दा प्रथा, विषम विवाह आदि सभी बुरी प्रथाओं को नष्ट करना चाहिए।

मातृत्व की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा है। मातृ-कल्याण के कार्यक्रमों को समाजकल्याण के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम मानना चाहिए। वेतन तथा सम्पदा में स्त्रियों तथा पुरुषों को समान अधिकार होने चाहिए।

विवाह, दत्तकप्रथा, दायभाग (विरासत) आदि के नियमन हेतु व्यावहारिक नियम सारी भारतीय जनता के लिए एक ही होने चाहिए।

अल्पसंख्यकों के प्रति सहिष्णुता तथा उनके साथ पूर्णतः भेदभावरहित व्यवहार प्रजातंत्र का अनिवार्य अंग है। भारत के सभी अल्पसंख्यकों को जनसंघ का यह आश्वासन है। किन्तु इसी प्रकार धर्म के आधार पर भी अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक का भेदभाव करना जनसंघ को स्वीकार नहीं है। ऐसा करना असाम्प्रदायिक या 'धर्मनिरपेक्ष' राज्य के सिद्धांत के विपरीत है। राजनीति या प्रशासन में इस प्रकार का भेदभाव करना या नीति बरतना राष्ट्रीयत्व की शुद्ध अवधारणा के विरुद्ध है।

प्रशासन का नया रूप

स्वराज्य मिलने के बाद विशेषतः सुराज्य का विचार अधिक जागरूकता एवं गहराई में जाकर किया जाना चाहिए। जनसंघ ने प्रशासन की पुनर्रचना एवं सुधार का आग्रह प्रारम्भ से ही रखा। सामान्य जनता स्वराज्य का प्रत्यक्ष अनुभव प्रशासन में ही करती है। इसलिए दक्ष, कार्यक्षम तथा लोकानुकूल प्रशासन सरकार की प्रथम आवश्यकता है। राष्ट्र की पुनर्रचना के कार्य में सहभागी होने की भावना सारे कर्मचारियों में निर्मित करना आवश्यक है। इसी प्रकार सरकारी कर्मचारियों के राजनीति में भाग लेने का निषेध प्रजातंत्र के सिद्धांतों के विरुद्ध है। इसीलिए पुलिस, सुरक्षा-सेवा, अधिकारी-वर्ग तथा सामान्य प्रशासन के अतिरिक्त सभी सरकारी कर्मचारियों को राजनीति में भाग लेने की छूट रहनी चाहिए।

जनसंघ ने न्यायपालिका के स्वातंत्र्य को आधारभूत माना था। न्याय तुरंत मिले, सस्ता मिले, अंग्रेजी न्यायप्रणाली का अनुकरण बंद हो, आदि अवधारणाएं जनसंघ ने सामने रखी थीं।

सारांश : जनसंघ के राष्ट्रीय जीवन-दर्शन का उद्देश्य स्वतंत्र भारत की पुनर्रचना के प्रयासों के लिए विशुद्ध भारतीय तत्त्व-दृष्टि प्रदान करना था। दीनदयाल जी ने इसका सूत्र रखा था—' भारतीयो भूत्वा भारतं यजेत्'। आर्थिक प्रगति की कसौटी समाज के सबसे ऊपर की सीढ़ी वाला मनुष्य नहीं, सबसे निचली सीढ़ी का मनुष्य होता है। शासन की विशेषता, योजना तथा नियम आदि को इसी दृष्टि से परखना चाहिए। जनसंघ की भावना तथा सिद्धांत था कि इस देश में अपढ़ तथा दरिद्र लोग ही हमारे नारायण हैं। यही सामाजिक या मानव धर्म है। करोड़ों लोग बेसहारा और अनपढ़ हैं। अपने बच्चों का भविष्य क्या हो? यह प्रश्न करोड़ों माता-पिताओं के सामने मुँह बाए खड़ा है। इन करोड़ो लोगों को अपने चारों पुरुषार्थों को साधने का अवसर मिले, तभी एकात्म मानव की कल्पना साकार होगी। ('भारतीय जनसंघ—घोषणाएं', प्रस्ताव भाग-३)

४.

दीनदयाल एक मूलगामी विचारक

अब तक हमने देखा कि भारतीय जनसंघ चुनाव लड़ने के लिए पैदा हुआ दल नहीं था, न ही वह कांग्रेस से मतभेद होकर बाहर निकले राजनीतिक नेताओं या कार्यकर्ताओं द्वारा स्थापित किया गया था। एक स्वतंत्र राष्ट्रीय दर्शन देने के लिए इस दल की स्थापना की गयी थी। कांग्रेस एक सत्तावादी दल बन गया था। महात्मा गांधी का उत्तराधिकार और नेहरूजी का जन-सम्मोहन सत्ता की राजनीति में उसके शस्त्र थे। शुद्ध चरित्र के नेता एवं कार्यकर्ताओं की प्रखर राष्ट्रभक्ति तथा संस्कृतिनिष्ठा के अतिरिक्त जनसंघ के पास कुछ भी नहीं था। वैचारिक दृष्टि से नेहरूजी के समाजवाद और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद तथा कम्युनिज्म की दो धाराओं में राजनीति लगभग बँट गयी थी। परन्तु कम्युनिस्ट भी राजनीतिक दृष्टि से प्रभावी एवं प्रबल नहीं थे। इसलिए एकतंत्रीय तथा एकदलीय प्रजातंत्र के पाँव भारतीय राजनीति में स्थिर हो चले थे। डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने जनसंघ के प्रारंभिक अधिवेशन में उस समय की राजनीतिक परिस्थिति का वर्णन करते हुए कहा था, "चार वर्ष पूर्व सदिच्छाओं की विरासत लेकर कांग्रेस सत्ता में आयी। किन्तु आश्चर्य की बात है कि कांग्रेस ने आज उस सदिच्छा को खो दिया है। अधिकांश लोगों का समर्थन उसे नहीं मिल रहा है और दुराचार के मार्गों का अवलम्बन कर वह सत्ता को बनाये रखने में जुटी है। कांग्रेस की तानाशाही का एक मुख्य कारण यह है कि आज देश में सुसंगठित विरोधी दल नहीं हैं। विरोधी दल के कारण बहुमत वाले दल पर अंकुश लगता है और देश में दूसरे दल की सरकार आ सकती है, यह सान्त्वना देश को मिलती है।" सारांश यह कि अनुशासनबद्ध राजनीतिक दल की भारतीय जनतंत्र में उन दिनों राजनीतिक आवश्यकता थी। वैसे तो प्रजा समाजवादी दल उस समय विद्यमान था। किन्तु उसका स्वरूप केवल कांग्रेस की त्रुटियों को उजागर करना या नेहरूजी की समाजवाद की दृष्टि से आलोचना करना (करैक्शनल पालिटिक्स) मात्र था। सत्ता की आकांक्षा उसमें थी अवश्य, किन्तु मूलगामी वैकल्पिक विचारधारा नहीं थी।

वैकल्पिक विचारधारा की आवश्यकता

नेहरूजी का कथित धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद, रूस के अनुकूल विदेश-नीति, हिन्दुत्व के प्रति तिरस्कार, समाजवाद का दिखावटी आकर्षण, भारतीय संस्कृति के बारे में परायेपन की भावना आदि सभी बातों को अच्छा न मानने वाला एक बड़ा

वर्ग उन दिनों देश में था। डा. सम्पूर्णानंद (भूतपूर्व मुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश) ने इस परिस्थिति का उत्तम वर्णन उस समय किया था। उन्होंने कहा था—"सामाजिक तथा आर्थिक विघटन के साथ ही हमारे प्राचीन जीवन-मूल्य भी स्थान-भ्रष्ट होते जा रहे हैं। इस प्राचीन परम्परा वाले देश के पास हजारों वर्षों की स्मृतियाँ हैं जो उसकी आशा-आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब बन गयी हैं। उस परम्परा की हम केवल उपेक्षा ही नहीं कर रहे, उसकी ओर से मुख भी मोड़ रहे हैं।" तो यह एक राजनीतिक रिक्तता थी जिसका लाभ कम्युनिस्ट उठा रहे थे। यही एक वैकल्पिक विचारधारा भारत को उबार सकेगी, ऐसा वातावरण उन दिनों देश में निर्मित हो गया था।

संक्रमण की इस अवस्था में भारतीय जनसंघ पर दोहरा दायित्व आ पड़ा था। एक ओर तो कांग्रेस से टक्कर लेने वाला देशव्यापी दल संगठित करना और दूसरी ओर कम्युनिज्म को मुँहतोड़ उत्तर देने वाली तथा भारतीय जीवन-मूल्यों की पुनः-प्रतिष्ठा कराने वाली एक विचारधारा का निर्माण कर उसके लिए जनमत को संगठित करना। अर्थात् जनसंघ को केवल राजनीतिक रिक्तता ही नहीं भरनी थी, अपितु भारत की सर्वांगीण पुनर्रचना का एक दर्शन देश को देना था।

दीनदयाल जी की भूमिका

जनसंघ को यह जो ऐतिहासिक कार्य करना था, वह केवल प्रस्ताव पारित करके बनने वाला नहीं था। रा.स्व.संघ का बीजरूप चिंतन, उसकी तत्त्व-दृष्टि, देशभक्ति, निःस्वार्थ समाजहित की बुद्धि तथा संगठन-कौशल की पूँजी लिये हजारों कार्यकर्ता जनसंघ में आये थे। राजनीति का मैदान उनके लिए नया था। सत्ता की राजनीति की पैंतरेबाजी से वे अपरिचित थे। एक दृष्टि से उनका पन्ना कोरा था। देश का ललाट-लेख उस पर जनसंघ को लिखना था। डा. मुखर्जी के सहयोगी के रूप में दीनदयाल जी दिये गये थे। इसका कारण यह था कि श्री गुरुजी भलीभांति जानते थे कि दीनदयाल जी में बुद्धिमत्ता, कार्यक्षमता, मधुर वाणी, संगठन-कौशल तथा बौद्धिक और भावनात्मक संतुलन आदि वे सारे गुण थे जो एक उत्कृष्ट संघटक के लिए आवश्यक होते हैं। स्वयंसेवक के नाते दीनदयाल जी का जो विकास हुआ था उसे श्री गुरुजी ने देखा था। विचारक के नाते उनके गुणों का वर्णन करते हुए उनकी मृत्यु के बाद श्री गुरुजी ने कहा था—"हमारे दीनदयाल जी की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि किसी भी विषय पर बोलते या लिखते समय वे अपनी ध्येय-प्रणाली की दृष्टि से ही विचार प्रस्तुत करते थे। इस स्तर को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। किसी भी प्रश्न का विचार केवल तात्कालिक दृष्टि से करना उनके स्वभाव में नहीं था। मूलगामी विचारों के अध्येता के नाते मैं उन्हें जानता था। किसी भी नैमित्तिक विषय पर बोलते या लिखते समय उसमें निहित चिरंतन तत्त्व को उन्होंने कभी नही भुलाया।"

इस कोटि की बौद्धिक क्षमता एवं अनुशासन रखने वाले विचारक नेता की ही भारत की समस्याओं का चिंतन करते हुए नया दर्शन देने के लिए आवश्यकता थी। भारत तथा जनसंघ के सौभाग्य से दीनदयाल जी के रूप में ऐसा विचारक, संगठक तथा आदर्श कार्यकर्ता उन्हें मिला था। यही नहीं, उनका व्यक्तित्व अपने कर्तव्य के

बारे में किंचित् भी अहंकार न रखने वाला और समाज में पूर्णरूपेण विलीन था। राजनीति उनकी दृष्टि में राष्ट्र-सेवा का नया क्षेत्र था। समर्थ रामदास ने हिन्दू आदर्श के बारे में अपने 'दासबोध' में जो वर्णन किया है, दीनदयाल उसके जीते-जागते प्रतीक थे। रामदास स्वामी ने कहा था—

सकल सुखांचा त्याग। करोन साधिजे हा योग।
राज्य साधनाची लगबग। केली पाहिजे।।

जनसंघ कल सत्ता में आने वाला दल बने, इस दृष्टि से दीनदयाल जी ने उसकी संरचना की तथा उसे राष्ट्रीय जीवनदर्शन दिया। जनसंघ के वे विचारदाता बने। चरित्र का तथा संगठन-कौशल का आदर्श बने।

सैद्धांतिक अधिष्ठान

जनसंघ तीन ओर से अपने विचार निश्चित करने जा रहा था। (१) कांग्रेस ने जो भी निर्णय लिये थे, उनको देखते हुए अपना विचार करना, (२) स्वतंत्र भारत के जो-जो आधारभूत सिद्धांत माने गये थे उनका भारतीय दृष्टि से विचार करना, तथा (३) अपनी नयी विचारधारा देश के सम्मुख प्रस्तुत करना।

कांग्रेस सरकार ने तीन महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये थे। पहला निर्णय था किसी भी सत्ता-गुट में या सैनिक-सन्धि में सहभागी न होते हुए तटस्थता की नीति पर चलना। दूसरा निर्णय था आर्थिक नियोजन का तथा तीसरा मिश्रित अर्थव्यवस्था का। जनसंघ ने इन तीनों के बारे में विचार कर अपनी भूमिका पक्की की थी। समय-समय पर प्रस्ताव पारित कर उस भूमिका को जनसंघ ने सरकार तथा जनता के समक्ष प्रस्तुत किया था।

इन सभी विचारों का सूत्रपात दीनदयाल जी ही करते थे। वही इनके प्रतिपादक थे। सभी अर्थों में वे जनसंघ के गुरु थे। विजयवाड़ा में १९६५ में हुए जनसंघ के अधिवेशन में दीनदयाल जी के एकात्म मानववाद को प्रकट रूप से स्वीकार किया गया। भाषा, संस्कृति, भारत-पाक संबंध, 'संविद' सरकारें, चुनाव-नीति, आर्थिक नीति, पंचवर्षीय योजना, विकेन्द्रीकरण आदि विषयों के बारे में जनसंघ की नीति एवं विचार दीनदयाल जी के ही विचार होते थे। जनसंघ की आर्थिक नीति के बारे में पारित प्रस्तावों की संकलन-पुस्तिका की प्रस्तावना में श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने स्पष्ट शब्दों में दीनदयाल जी को "जनसंघ की आर्थिक नीति के रचनाकार" बताया है। (Economic Policy Resolutions of B.J.S.—Published by B.J.S. Bombay, April 1964)

इसलिए इसकी खोज करना आवश्यक है कि जनसंघ के विविध विषयों के सिद्धांतों का मूल कहाँ था यह खोज आज भी उद्‌बोधक एवं मार्गदर्शक सिद्ध होगी। कारण यह है कि आज भी वे समस्याएं न केवल अनिर्णीत हैं, बल्कि अधिक ही जटिल बन गयी हैं। सम्भ्रम फैला हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा सारा चिंतन तदर्थ (Adhoc) या अस्थायी पद्धति से चल रहा है। राजनीतिज्ञ, जैसा समय आये, वैसा और उतना ही विचार करने वाला होता है। वह केवल तात्कालिक हित को ही देखता है। जनतंत्र में कटु सत्य बोलने का साहस नहीं हुआ करता।

इसीलिए लोकप्रियता के पीछे दौड़ने वाली राजनीति ही हमारी आज की राजनीति बन गयी है। ऐसी राजनीति दीनदयाल जी के स्वभाव में नहीं थी। लोकहित, राष्ट्रहित तथा सांस्कृतिक मूल्य उनके चिंतन के मार्गदर्शक सूत्र थे। दल की राजनीति को इन तीन कसौटियों पर परखकर विचार करना या नीति-निर्धारण करना कई बार लाभकर नहीं हुआ करता। इसीलिए हमारी नीति लोकप्रिय नारों पर आधारित हुआ करती है। उसमें भविष्य का विचार नहीं हुआ करता; वास्तविकता का अध्ययन नहीं रहता। दीनदयाल जी की चिंतन-पद्धति प्रश्न के मूल में पहुँचने वाली थी। प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर वह बनी थी। जनसंघ के आर्थिक प्रस्ताव तैयार करने का दायित्व उन पर होने के कारण वे स्वयं सामान्य जन के दुःखों तथा समस्याओं को प्रत्यक्ष में उनसे मिलकर समझ लेने का प्रयास करते थे। इस संबंध में उनकी प्रवृत्ति को स्पष्ट करने वाला एक प्रसंग यहाँ उल्लेखनीय है।

बात लखनऊ की है। एक बार गोहत्या-विरोधी आंदोलन के चलते दीनदयाल जी लखनऊ गये। प्रातः के सात बजे थे। उन्हें अपने बाल कटवाने थे। इसके लिए उन्होंने एक घंटा खाली रखा था। किन्तु नाई आया नहीं। वे एक दो सैलूनों में गये। वहाँ बड़ी भीड़ थी। पास के ही पाद-पथ (फुटपाथ) पर एक नाई ग्राहक की प्रतीक्षा में खाली बैठा था। दीनदयाल जी उसके सामने अपने बाल कटवाने के लिए जा बैठे। वापस पहुँचे तो कार्यकर्ताओं ने पूछा—"बाल ऐसे कहाँ से कटवा लिये?" "घुम्मा सैलून में" दीनदयाल जी ने हँसते-हँसते उत्तर दिया—"उसे ग्राहक की आवश्यकता थी और मुझे नाई की।" उन्होंने बाल कटवाते समय उस नाई की आर्थिक स्थिति की पूछताछ की थी। इसी प्रकार से वे रिक्शा वाले, हाथ ठेला वाले, झुग्गी-झोंपड़ी वाले आदि लोगों की स्थिति को समझ लेने का सदैव प्रयत्न करते थे। सामान्य जन की कठिनाइयाँ तथा दुःख प्रत्यक्ष में उनसे मिलकर जान लेना उनकी शैली थी। भारत के आर्थिक प्रश्नों का अध्ययन करने के लिए दीनदयाल जी ने पुस्तकें तो पढ़ी ही थीं, समाज-जीवन के इस ग्रंथ को भी उन्होंने पढ़ा था।

प्रस्थापित विचारधाराओं का अध्ययन

आर्थिक विकास का मुख्य उद्देश्य सामान्य मानव का सुख है। उसके लिए विश्व की आर्थिक विचारधाराओं एवं प्रणालियों का, जिनके प्रयोग विदेशों में तथा भारत में चल रहे थे, तुलनात्मक अध्ययन दीनदयाल जी ने किया। श्री नानाजी देशमुख उनके निकट सहयोगी थे। उन्होंने इस विषय में लिखा है—"राष्ट्रवाद, जनतंत्र, समाजवाद, साम्यवाद, सब समानता पर आधारित प्रणालियाँ हैं। परन्तु इनमें से कोई भी विचारधारा परिपूर्ण नहीं है। प्रत्यक्ष व्यवहार में वे एक दूसरे के विरोध में जाती हैं। राष्ट्रवाद के कारण विश्वशांति के लिए संकट उत्पन्न होता है। पूँजीवाद प्रजातंत्र को ग्रस लेता है और उसमें से शोषण होता है। समाजवाद, पूँजीवाद का नाश तो करता है, किन्तु उसके कारण प्रजातंत्र का भी विनाश होता है और व्यक्ति का स्वातंत्र्य खतरे में पड़ जाता है। ऐसा होता है इन सबका परिणाम। आज पश्चिमी राष्ट्रों के सामने प्रश्न उपस्थित है कि इन सब प्रणालियों में एक दूसरे

के लिए पूरक होने वाला तालमेल कैसे बिठाया जाय। दीनदयाल जी तीव्रता से अनुभव करने लगे थे कि काल के साथ ससंगत, व्यवहार्य एवं सर्वांगीण जीवन-दर्शन हमारे पास होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने अध्ययन एवं चिंतन प्रारम्भ किया। उसमें से एकात्म मानववाद का जन्म हुआ। जनसंघ ने अपनी ध्येय-प्रणाली के रूप में उसे स्वीकारा। दीनदयाल जी के मन में किसी भी विचारधारा या व्यक्ति के बारे में कोई पूर्वाग्रह नही होता था। हरेक दर्शन का वास्तविक मूल्य खोज निकालना उनकी विशेषता थी।"

इस प्रकार दीनदयाल जी ने वैचारिक अनुसंधान प्रारम्भ किया। उन पर दयानंद, लोकमान्य तिलक, डा. हेडगेवार के संस्कार तो पड़े ही थे, श्री गुरुजी का मार्गदर्शन भी उन्हें प्राप्त होता था। दोनों में सैद्धांतिक चर्चा तथा विचार-विनिमय हुआ करता था। एक बार श्री गुरुजी ने दीनदयाल जी को 'दैशिक शास्त्र' पुस्तक पढ़ने को दी। वह पुस्तक लोकमान्य तिलक के समय में लिखी गयी थी। उसके लिए तिलक जी प्रस्तावना भी लिखने वाले थे। वैसा पत्र उन्होंने लेखक को भेजा था। इस पुस्तक के लेखक थे श्री बद्रीशाह ठुलधरिया। पुस्तक के मराठी अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा गया है—"दीनदयाल उपाध्याय ने 'एकात्म मानववाद' का प्रतिपादन करते समय इस ग्रंथ का संदर्भ के रूप में उपयोग किया था।" यह ग्रंथ ६५ वर्ष पूर्व हिन्दी में लिखा गया था जिसकी पांडुलिपि पढ़कर तिलकजी ने लेखक को लिखा था, "मैंने आपका 'दैशिक शास्त्र' बहुत हर्षपूर्वक पढ़ा। मेरा और आपका विचार बिल्कुल समान है।" इस पुस्तक का विषय देश भक्ति का शास्त्र है। इस ग्रंथ में 'चिति' तथा 'विराट्' की संकल्पनाओं को श्री ठुलधरिया ने स्पष्ट किया है। दीनदयाल जी ने इन शब्दों को फिर से प्रचलित किया। इस सिद्धांत को कि भारतीय राष्ट्र अनादि काल से 'राष्ट्र' के रूप में पहचाना जाता है, उसकी सांस्कृतिक एकता ही उसकी राष्ट्रीय एकता है और इस एकता का बोध भारतीयों में फिर से उत्पन्न करना चाहिए, दीनदयाल जी ने अपनी विचार धारा का प्रमुख बिन्दु बनाया था। जुलाई-अगस्त १९४७ में प्रकाशित 'राष्ट्रधर्म' के प्रथम अंक में 'भारतीय राष्ट्रधारा का पुण्यप्रवाह' शीर्षक से उन्होंने एक लेख लिखा था। उसका सूत्र यही था कि एक संस्कृति के आधार पर ही भारत की राष्ट्रीयता खड़ी है। इसी अखण्ड राष्ट्रीयता का हमें पुनः आह्वान करना चाहिए। उसी प्रकार २४ अगस्त, १९६८ के 'पांचजन्य' में दीनदयाल जी ने 'लोकमान्य के सपनों का भारत' शीर्षक से 'दैशिक शास्त्र' पुस्तक की समीक्षा प्रकाशित की थी। उसमें एकात्म मानववाद का बीज पाया जाता है। दीनदयाल जी ने उसमें लिखा था—"राष्ट्रवादी, समन्वयवादी एवं पूर्णतावादी लोगों का मानना है कि पाश्चिम की भौतिकता का तालमेल भारत की आध्यात्मिकता के साथ बिठना चाहिए। भौतिक एवं आध्यात्मिक दो पृथक् भागों में जीवन का विचार नही किया जा सकता। जिन मूल्यों के माध्यम से व्यक्ति अपने आचरण द्वारा समाज-सुधार करता है, उनका आधार एक चिद्शक्ति होती है। उन मूल्यों का समाज के समन्वित जीवन से निर्माण होता है और उनका विस्तार भी होता है। किसी यन्त्र को तो उसके कलपुर्जे एकत्रित कर बनाया जा सकता है, किन्तु समाज-जीवन का निर्माण ऐसे नही होता।। पश्चिम के

भौतिक मार्ग से जाना हो तो कर्मशील व्यक्ति के सामने प्रश्न खड़ा होता है कि हमारा अपना मार्ग क्या है? हमें अपने मार्ग की जानकारी नहीं होती और अपना मार्ग स्वयं ढूँढ़ लेने का आत्मविश्वास भी नहीं होता। इसीलिए पश्चिमी प्रचार-तंत्र का हम लोग शिकार हो जाते हैं और उसका अनुसरण करने लगते हैं। 'दैशिक शास्त्र' पुस्तक की प्रेरणा श्री बद्रीशाह ठुलधरिया को लोकमान्य तिलक के 'कर्मयोग शास्त्र' (गीता रहस्य) से प्राप्त हुई थी। लोकमान्य तिलक ने गीता के आधार पर कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए भारत की आध्यात्मिकता को निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर खींच लिया था। भारतीय संस्कृति के शाश्वत तत्त्वों को उन्होंने हिमालय की गहरी गुफा से निकाल कर जीवन के खुले मैदान में लाकर खड़ा कर दिया था जिससे भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को शक्ति का अनंत स्रोत मिल गया। 'दैशिक शास्त्र' तथा 'कर्मयोग शास्त्र' परस्पर पूरक ग्रंथ हैं। राष्ट्र-निर्मिति के कार्य को समर्पित प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि ये दोनों ग्रंथ पढ़े। हमारी सभी समस्याओं का निदान एवं निराकरण करने के लिए उससे सहायता मिलेगी।" (पांचजन्य, २४ अगस्त, १९५९)

दीनदयाल जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भारत के नये जीवनदर्शन के बीजरूप आधारभूत सिद्धांत इन दो ग्रंथों में हैं।

आद्यशंकराचार्य का धर्म-संजीवन

दीनदयाल जी की बौद्धिक तथा वैचारिक विचारधाराओं का अनुसंधान करते समय पर्याप्त पीछे जाना होगा। आद्य शंकराचार्य ने बौद्ध मत की तत्कालीन चुनौतियों का उत्तर कैसे दिया, संपूर्ण भारत में फिर से वैदिक धर्म की प्रस्थापना कैसे की, परम्परा को न त्यागते हुए युगानुकूल परिवर्तन उन्होंने कैसे ला दिया, इन सब बातों का उत्तम विश्लेषण दीनदयाल जी द्वारा लिखे गये आद्य शंकराचार्य के चरित्र में पाया जाता है। इसी विषय पर अपने विचार उन्होंने 'राष्ट्र धर्म' के प्रथम अंक (जुलाई-अगस्त, १९४७) की प्रस्तावना में लिखे। उनसे दीनदयाल जी के विचारों की दिशा का अनुमान लगाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि दीनदयाल जी यद्यपि परम्परा में पगे हुए थे, फिर भी परिवर्तन की आकांक्षा भी उनके मन में अवश्य थी। परिणामस्वरूप उनका मन इस खोज में व्यस्त था कि पूर्व इतिहास में हिन्दुओं में परिवर्तन कैसे-कैसे हुए तथा किस-किसने कराये। आद्य शंकराचार्य तथा गौतम बुद्ध पर लिखे लेख में दीनदयाल जी ने कहा है कि "शंकराचार्य हिन्दू धर्म की समन्वय-वृत्ति के ज्वलंत उदाहरण हैं। उन्होंने गौतम बुद्ध के विद्रोह का अर्थ सही प्रकार से पहचाना था। कालचक्र की गति को समझा था। उस विद्रोह के कारण देश को क्षति अवश्य पहुँची। उस काल में धर्म-चिंतकों के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि वैदिक धर्म को सभी दृष्टियों से समर्थ एवं कालानुकूल कैसे बनायें। शाश्वत जीवन-तत्त्व के बारे में हिन्दू धर्म का आग्रह यही था कि जीवन को परिपूर्ण करने के लिए आवश्यक साधनों में युग के अनुसार परिवर्तन करते समय संकोच नहीं करना चाहिए। शंकराचार्य ने प्राचीन मूल्यों का संरक्षण कर नया परिवर्तन किया। किन्तु राष्ट्र के आत्मा को उन्होंने कोई चोट नहीं पहुँचायी। हिन्दू धर्म का बाह्य रूप बदल गया, किन्तु आत्मा वही शाश्वत रहा।

राष्ट्रीय भावना को दृढ़मूल करने वाले विविध धर्ममतों तथा सम्प्रदायों का समन्वय करने की वृत्ति भी उन दिनों प्रबल हुई। इस समन्वय का बहुत कुछ श्रेय शंकराचार्य को दिया जाना चाहिए। कर्म, भक्ति तथा ज्ञान, तीनों विचारधाराओं का संगम भी उन्हीं दिनों हुआ। उसका श्रेय भी शंकराचार्य को जाता है।''

भारतीय परिभाषा

प्रजातंत्र, समाजवाद आदि परिकल्पनाओं एवं उनमें निहित तात्त्विक सिद्धांतों का विचार दीनदयाल जी कर रहे थे। भारतीय जीवन-मूल्य उनके लिए कसौटी का पत्थर था। उनके विचार का मुख्य सूत्र था कि सनातन मूल्यों को भी नयी परिस्थिति एवं नयी परिभाषा में बार-बार प्रस्तुत करना पड़ता है। अतः शंकराचार्य, लोकमान्य तिलक, स्वामी दयानंद आदि की विचार-सृष्टि उनके मन में संदर्भ के रूप में सदा रहती थी। किसी भी परिवर्तन में परिस्थिति एक महत्त्वपूर्ण घटक हुआ करती है। उसी प्रकार मन तथा बुद्धि पर हुए संस्कार भी उसके लिए कारण बनते हैं। दीनदयाल जी के विचारों का अध्ययन करते समय उनकी वैचारिक प्रक्रिया को समझ लेना आवश्यक है। इसीलिए यह विवेचन किया है। 'दैशिक शास्त्र' ग्रंथ में भी श्री ठुलधरिया ने देशभक्ति, राष्ट्रीयता, स्वातंत्र्य और भारत संबंधी प्रश्नों का विचार भारत के प्राचीन विचारों के परिप्रेक्ष्य में ही किया है। उदाहरण के लिए, इस पुस्तक के 'देशभक्ति' शीर्षक के पहले ही अध्याय में महत्त्वपूर्ण विचार-विन्दु प्रस्तुत करते हुए भारत की स्थिति का उल्लेख किया गया है। व्यक्तिगत हितों की उपेक्षा कर देश की हित-साधना करने के लिए इंग्लैंड में पायी जाने वाली प्रवृत्ति का भी उल्लेख है। इसके लिए 'चिति', 'विराट्' आदि शब्द भी प्रयोग में लाये गये हैं। यह सारा प्रयास भारतीय परिभाषा में तत्कालीन प्रश्नों एवं प्राचीन विचारों में तालमेल बिठाने के लिए किया गया है। शब्द किसी अवधारणा को व्यक्त करने के लिए प्रचलित होते हैं। उस अवधारणा में समाज तथा व्यक्ति की तत्त्व-दृष्टि निहित होती है। इसीलिए दीनदयाल जी ने 'चिति' एवं 'विराट्' शब्दों को फिर से प्रचलित किया। यही नहीं, उन्होंने प्राचीन भारतीय तत्त्व-दृष्टि को स्वीकार करते हुए नयी परिभाषा में वही अवधारणा फिर से समाज के सम्मुख रखी। यह है दीनदयाल जी का वैचारिक कार्य। इसीलिए उनके विवेचन तथा प्रतिपादन में सदैव प्राचीन शब्द तथा प्राचीन संदर्भ बार-बार आते हैं। भारतीय परिस्थिति या नये पाश्चात्य प्रयोग अथवा अवधारणाओं की चर्चा करते समय दीनदयाल जी ने इसी बोध को स्वीकारा था।

'चिति' का प्रकाश

उदाहरण के लिए 'राष्ट्रधर्म' के नवम्बर-दिसम्बर, १९५० (कार्तिक पूर्णिमा संवत् २००७) के अंक में उन्होंने एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था 'चिति'। इस लेख में दीनदयाल जी ने राष्ट्र के आत्मा एवं उसकी पुनर्रचना का महत्त्व विस्तारपूर्वक रखा था। यह लेख स्वराज्य मिलने के बाद का है। इससे पता लग जाता है कि दीनदयाल जी का विचार-मंथन किस दिशा में चल रहा था। भारत की स्वतंत्रता एक युग-परिवर्तनकारी राजनीतिक घटना थी। किन्तु स्वतंत्रता मिलने तक देश में एक सरल समीकरण बन गया था कि देशभक्ति का अर्थ

ब्रिटिशों का विरोध। हम लोग यह मानकर चलते थे कि हमारी आर्थिक दरवस्था आदि समस्याओं का मूल कारण अंग्रेजों का राज्य ही है। किन्तु देशभक्ति को रचनात्मक या भावनात्मक रूप देने का विचार किसी ने नहीं किया था। दीनदयाल जी ने इस विषय में कहा है—"राष्ट्र की अवधारणा में ही देशभक्ति का मर्म छिपा हुआ है। हम सब राष्ट्र का विचार क्यों करते हैं? इसीलिए कि हमारी यह धारणा होती है कि राष्ट्र के वैभव में ही अपना व्यक्तिगत वैभव भी समाया है। किन्तु क्या इतनी स्वार्थमूलक प्रेरणा ही देशभक्ति होती है? ऐसा ही होता, तो डाकुओं की एकता और हमारी स्वार्थप्रेरित एकता में कोई अन्तर ही नहीं रहता। राष्ट्रभक्ति का अर्थ है, राष्ट्रीय समाज के साथ समरस हो जाना। सम्पूर्ण राष्ट्रीय समाज के प्रति ममत्व की भावना ही देशभक्ति है। उस समाज का और मेरा आत्मा एक ही है, इस भावना के कारण ही यह ममत्व पैदा होता है। व्यक्ति की भाँति राष्ट्र का भी अपना आत्मा होता है। उस आत्मा के अस्तित्व के कारण ही सारा राष्ट्र एकात्म बनता है। राष्ट्र के उस आत्मा को हमारे शास्त्रकारों ने 'चिति' कहा है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक 'चिति' होती है। 'चिति' ही राष्ट्रीयता का चिन्ह है। इसी 'चिति' के कारण प्रत्येक राष्ट्र की संस्कृति को भिन्न व्यक्तित्व प्राप्त होता है। साहित्य, कला, धर्म, भाषा, सब इसी 'चिति' की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। शरीर के सभी अवयव जिस प्रकार से आत्म-तत्त्व के कारण एक दूसरे से जुड़े होते हैं, उसी प्रकार संस्कृति, धर्म, भाषा आदि बातें राष्ट्रीय आत्म-तत्त्व के साथ जुड़ी होती हैं। इस तत्त्व के कारण ही इन सबका पोषण होता है। राष्ट्र में पायी जाने वाली समाज की एकता, उसका समष्टि-जीवन, राष्ट्र के इस आत्मा या 'चिति' के कारण ही हम अनुभव करते हैं। 'चिति' के प्रकाश से ही राष्ट्र का अभ्युदय होता है। 'चिति' के विनाश के कारण राष्ट्र का पतन होता है। भारत का उत्थान करना हो तो राष्ट्र की इस 'चिति' या आत्मा का स्वरूप-दर्शन भारतीयों को कराना होगा। केवल बाहरी अंग को सजाने से राष्ट्र को वैभव प्राप्त नहीं होगा। आज की रचनात्मक देशभक्ति का उद्देश्य हमें सामने रखना होगा।" (राष्ट्रधर्म, कार्तिक पूर्णिमा, संवत् २००७, अंक ३-४)

'विराट्' का उदय

'चिति' राष्ट्र-आत्मा है। राष्ट्र की प्राण-शक्ति को दीनदयाल जी ने 'विराट्' कहा है। राष्ट्र को सचेतन रखने वाली वह शक्ति सारे शरीर में संचार करती है। जनतंत्र की सफलता भी जागरूक 'विराट्' पर निर्भर रहती है। यह सचेतनता ही राष्ट्र-जीवन का सर्वांगीण विकास करवाती है। 'चिति' के कारण जागरूक होने वाली शक्ति को 'विराट्' कहा गया है, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी जो है।

प्रकृति, धर्म एवं संस्कृति

दीनदयाल जी की विचारधारा का अधिष्ठान 'चिति' तथा 'विराट्' की भाँति धर्म, प्रकृति, संस्कृति, 'मैं' और 'हम' की उनकी अवधारणा पर आधारित है। दीनदयाल जी की आधारभूत विचारधारा का वर्णन करना हो तो कहना होगा कि वह समाजशास्त्रीय है। किन्तु उन्होंने भारत की आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है, इसीलिए वह पाश्चात्य समाजशास्त्रीय ढंग की नहीं है। उन्होंने विचारपूर्वक जो प्रश्न हाथ में लिये वे सभी मूलतः सामाजिक हैं। राष्ट्रवाद का

विचार भी उन्होंने संस्कृति तथा धर्म के परिवेश में ही किया है। उदाहरणार्थ, 'पांचजन्य' (१३ जुलाई, १९५९) में दीनदयाल जी ने 'प्रकृति, धर्म, संस्कृति' शीर्षक से एक लेख लिखा था। उसमें संस्कृति का विवेचन करते समय उन्होंने कहा है—"व्यक्ति व समष्टि दोनों का संस्कृति के साथ संबंध होता है। किन्तु संस्कृति मूलतः सामाजिक है। संस्कृति में समाज के आत्मा का प्रकटीकरण होता है। अर्थात् चराचर को व्याप्त कर १० अंगुल बचने वाले ब्रह्म की भांति समाज का भी अपना अलग अस्तित्व होता है। किन्तु समाज का व्यक्त रूप व्यक्ति में ही देखने को मिलता है। उसी प्रकार संस्कृति, सामाजिक होकर भी व्यक्ति-व्यक्ति में प्रतिबिंबित होती है। हिन्दू विचार के अनुसार व्यक्ति और समाज अभिन्न होते हैं। भारतीय विचार-प्रणाली समाजनिरपेक्ष व्यक्ति का अस्तित्व ही संभव नहीं मानती।

व्यक्ति और समाज के हितों में तालमेल बिठाना तथा उन दोनों में परस्पर विरोध-निर्माण नहीं हो, ऐसी व्यवस्था करना संस्कृति का कार्य होता है। मनुष्य का शरीर, मन, इंद्रियां आदि उसकी प्रकृति के अनुसार काम करते हैं। उसके कुछ नियम होते हैं। उसी को धर्म कहते हैं। किन्तु इन नियमों का उल्लंघन हो जाय या व्यवहार में अतिरेक हो जाय तो हम कहते हैं कि विकृति उत्पन्न हो गयी। इस अतिरेक या विकृति को टालना आवश्यक होता है। वह धर्म का काम है। इसीलिए धर्म के आधार पर संस्कृति अपना काम करती है। धर्म समाज की धारणा करता है, किबहुना, समाज का नियमबद्ध अस्तित्व धर्म के कारण ही संभव होता है। मनुष्य आहार और व्यायाम नियमपूर्वक करे तो उसका शरीर नीरोग रहता है, उसी भांति धर्म का पालन करने से समाज व्यवस्थित रूप से चलता रहता है। मनुष्यों के एक दूसरे के साथ व्यवहार ठीक प्रकार से चलते रहते हैं।

इसीलिए धर्म का सामाजिक अंग भी होता है। मनुष्य अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्माण अकेले नहीं कर सकता। उसके लिए अनेक लोगों की सहायता आवश्यक होती है। लेन-देन करना पड़ता है। ऐसा प्रबंध भी करना पड़ता है कि इस व्यवहार में संघर्ष न हो। इस प्रबंध का आधार 'धर्म' हो तो समाज के सारे व्यवहार बिना संघर्ष के सुव्यवस्थित ढंग से चलते रहते हैं। इसीलिए वैचारिक आचरण व सामाजिक व्यवहार दोनों धर्म के आधार पर चलते हैं। इसी को समाज की धारणा कहा जाता है।

इस प्रकार मनुष्य केवल स्वार्थी न बनते हुए तथा समाज-विरोधी आचरण न करते हुए अपने जीवन के व्यवहार करता रहे, ऐसा वातावरण समाज में निर्मित करने का काम 'संस्कृति' करती है। धर्म की यह दूसरी सीढ़ी है। सारा मानव-व्यवहार स्वार्थ की प्रेरणा से नहीं चल सकता, दूसरे का हित (परहित) भी देखना पड़ता है। मनुष्य या समाज को यह प्रेरणा संस्कृति से प्राप्त होती है।"

सारांश यह कि धर्म और संस्कृति का विचार दीनदयाल जी व्यक्तिगत तथा सामाजिक नीति या आचरण-संहिता के रूप में करते थे। इसीलिए जब वे कहते थे कि भारत में धर्मराज्य प्रस्थापित करना चाहिए, तो उनका आशय ऐसा व्यापक और गहन हुआ करता था। इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि दीनदयाल जी की

चिंतन-प्रणाली मूलगामी थी। समाजवाद, प्रजातंत्र, मानवतावाद, सबका विचार उन्होंने इसी दृष्टि से किया। इसीलिए उनकी समीक्षा एक विशुद्ध भारतीय समीक्षा हुआ करती थी। किसी नये विचार को, वह केवल नया है इसलिए वे स्वीकार नहीं करते थे, या विदेशी है इसलिए त्याज्य भी नहीं मानते थे। बल्कि अपनी चिंतन-प्रणाली से उस अवधारणा या विचारधारा की चिकित्सा करते हुए वे अपने निष्कर्ष कर पहुँचते थे। इस प्रकार दीनदयाल जी एक रचनात्मक टीकाकार तथा विचारवादी थे।

समाजवाद, प्रजातंत्र व मानवतावाद

दीनदयाल जी ने समकालीन विचारधाराओं का भारतीय दृष्टिकोण से चिकित्सक अध्ययन किया था, कुछ अपने निष्कर्ष निकाले थे, तथा उनको लोगों के सामने प्रस्तुत किया था। वे एक समग्र जीवनदर्शन की खोज में थे। आगे चलकर उन्होंने वह जीवनदर्शन प्रस्तुत किया, जिसका नाम था, 'एकात्म मानववाद'। किन्तु उसके पहले १९६१ में समाजवाद, प्रजातंत्र तथा मानवतावाद विषय पर 'पांचजन्य' (२ जनवरी, १९६१) में इस वाद की चर्चा उन्होंने की थी। जनसंघ के अभ्यास-शिविरों में इस वाद पर विचार रखने के अतिरिक्त उन्होंने एक बार डा. राममनोहर लोहिया को भी समाजवाद पर भाषण देने के लिए आमंत्रित किया था। डा.लोहिया आये भी थे।

अपने आप को समाजवादी कहलाना आजकल एक फैशन बन गया है तथा राजनीतिक दलों में समाजवादी बनने की होड़ सी लगी है, यह बताकर दीनदयाल जी ने कहा था—"यूरोप में समाजवाद के अनेक प्रकार प्रचलित हैं। हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन, सभी अपने आपको समाजवादी कहते थे। भारत में भी सब प्रकार के समाजवादी हैं। कुछ नेता यूरोपीय समाजवाद को भारतीय रूप देने की बात करते हैं। एम.एन. राय ने जीवन के अंतिम चरण में समाजवाद को त्यागकर क्रांतिकारी मानववाद को प्रचलित करने का प्रयास किया।"

स्वामी विवेकानंद ने भी एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में कहा था—"मैं समाजवादी हूँ।" भूखे लोगों के प्रति सहानुभूति तथा उन्हें समाज में समान स्तर एवं सम्मान का स्थान देने की इच्छा प्रत्येक समाजवादी की प्रेरणा हुआ करती है। उनकी यह सदिच्छा निःसंदेह प्रशंसनीय है। दुःख, कष्ट, यातना, पीड़ा, छल, शोषण, भूख, दासता एवं अभाव देखकर मानवीय अन्तःकरण रखने वाले हर व्यक्ति में समाजवाद की यह भावना अवश्य उत्पन्न होगी। किन्तु समाजवाद केवल यहीं तक सीमित नहीं है। समाजवाद इस दुरवस्था को नष्ट करना चाहता है। उसने दरिद्रता की मीमांसा की है। रोग का निदान किया है। इस विषय में उसे मार्क्स का शिष्यत्व स्वीकारना पड़ता है। मार्क्स के साथ मतभेद रखने वाले लोग भी उसकी इस मीमांसा को अस्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु बोल्शेविक क्रांति के बाद आज तक का इतिहास यही दर्शाता है कि वह प्रणाली अधूरी है।

समाजवाद का प्रथम आक्रमण प्रजातंत्र पर होता है। मार्क्स ने वर्गहीन समाज की कल्पना की थी। ऐसा उसने कहा था कि कुछ समय के लिए श्रमिकों की

तानाशाही आयेगी। किन्तु प्रत्यक्ष में बात कुछ भिन्न ही बनी। जो राजनीतिक स्वतंत्रता मानव को प्राप्त हुई थी, वह फिर नष्ट हो गयी। प्रिंस क्रोपोटकिन ने २८ अप्रैल, १९१९ को पश्चिमी यूरोप के श्रमिकों के नाम लिखे एक पत्र में यह स्पष्टतया स्वीकार किया था कि दलीय तानाशाही या लौह नियंत्रण में केन्द्रीय सत्ता प्राप्त कम्युनिस्टों का प्रजाराज्य निर्मित करने की यह अवधारणा अंत में असफल ही होगी।

इस असफलता के कारण आज प्रजातंत्रीय समाजवाद की अवधारणा सामने आयी है। किन्तु समाजवादी प्रणाली में भी उत्पादन के साधन राज्यसंस्था के स्वामित्व में होते हैं। यह राज्यसंस्था आर्थिक क्षेत्र में ही अपना प्रभुत्व चाहती है, ऐसी बात नहीं। लोगों के राजनीतिक अधिकारों पर भी वह आक्रमण करती है। अतः समाजवाद की बंदूक की गोली प्रजातंत्र की छाती पर ही चलती है। समाजवाद एवं प्रजातंत्र एक साथ रह नहीं सकते। बाघ और बकरी का सह-अस्तित्व असम्भव है। हरेक समाज की संस्कृति तथा समाज-रचना का विचार आर्थिक विकास के साथ ही करें, तो यह उधेड़बुन और भी उलझ जाती है। उसे सुलझाना असम्भव सा लगने लगता है। इस समाजवादी वैचारिक संभ्रम का प्रभाव पूँजीवादी प्रणाली पर भी हुआ है। वहाँ समाजवादी राज्य के स्थान पर कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का उदय हुआ है।

आज की उलझन यह है कि प्रजातंत्रीय राष्ट्र में अपनी भूलों को सुधारने तथा नयी बातों को स्वीकार करने की मानसिक सिद्धता विशिष्ट प्रजातंत्रीय प्रणाली के कारण ही होती है। किन्तु समाजवादी विचारप्रणाली में यह लचीलापन नहीं हुआ करता। अंधश्रद्धा पर आधारित धर्म के अनुयायियों की भाँति कट्टर समाजवादी स्वतंत्र विचार से अपने आपको दूर ही रखना चाहते हैं। कम्युनिस्टों के शब्दकोश में 'स्वतंत्र विचारकों' के लिए अनेक गालियों का समावेश है। किन्तु एक विचारवान मनुष्य कभी विचारशून्य नहीं बन सकता।

आज भारत में समाजवाद राष्ट्रीयकरण पर बल देता है। अविकसित अर्थव्यवस्था में सरकार को अपने हाथ में सभी उद्योगों को रखना पड़ता है, यह तो ठीक है। निजी उद्योगपतियों के लिए मैदान खुला नहीं छोड़ा जा सकता। स्पर्धा का नियंत्रण करना ही पड़ता है। किन्तु इन दो क्षेत्रों में संतुलन रखने की आवश्यकता होती है। प्रजातंत्र एवं समाजवाद दो भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं। उनकी तुलना हो ही नहीं सकती। हमारी दृष्टि से ये दो अवधारणाएं वैकल्पिक नहीं हैं। ये प्रणालियाँ साधन हैं, साध्य नहीं। इसलिए पहले यह निश्चित करना होगा कि हमें जाना कहाँ है, फिर वहाँ जाने का मार्ग निर्धारित करना होगा।

यंत्रों की दासता

"हमें मनुष्यत्व का संरक्षण करना हो तो उसे सबसे पहले यंत्र की दासता से मुक्त कराना होगा। आज मनुष्य यंत्रों पर शासन नहीं कर रहा, यंत्र उस पर शासन कर रहे हैं। यंत्र के इस मोह के पीछे पड़ जाने के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को अधिकतम बढ़ाने तथा तृप्त करने के लिए दौड़-धूप करता है।

इसीलिए सम्पूर्ण मानव-जीवन का विचार करते समय हमें उत्पादन, वितरण, तथा उपभोग, तीनों का एकत्रित विचार करना होगा। उत्पादन तथा उपभोग दोनों को सार्थक जीवन जीते हुए प्राप्त कर सके, ऐसी अर्थव्यवस्था हमें विकसित करनी होगी।"

हिन्दुत्ववाद अवश्य चाहिए

"धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों पुरुषार्थों पर आधारित हिन्दू जीवनदर्शन ही हमें वर्तमान संकट से उबार सकता है। विश्व की समस्याओं का समाधान समाजवाद नहीं, हिन्दुत्ववाद है। हिन्दुत्व एक ऐसा जीवनदर्शन है जो जीवन का विचार साँचे में बंद ढंग से नहीं करता। इस जीवनदर्शन को पुराने निष्प्राण कर्मकाण्ड के साथ जोड़कर हिन्दुत्व के बारे में संभ्रम नहीं करना चाहिए। हिन्दुत्व को वैज्ञानिक प्रगति के विरुद्ध मानना भी गलत है। विज्ञान तथा तंत्रविज्ञान (टेक्नॉलॉजी) का उपयोग हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के अनुरूप रीति से करना चाहिए। हमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सैद्धांतिक अग्रपंक्ति (मोर्चों) पर यंत्रवाद का सामना करना पड़ेगा। इसलिए धर्मराज्य, प्रजातंत्र, सामाजिक समानता एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरण हमारे ध्येय होने चाहिए। जो इन सबका समावेश करे, ऐसा 'वाद' हमें चाहिए। फिर उसे आप जो चाहे नाम दीजिए हिन्दुत्ववाद या मानवतावाद।"

दीनदयाल जी का यह 'विराट्' केवल नकारात्मक आलोचना करने वाला नहीं है, आगे की दिशा दर्शाने वाला भी है। इसी तत्त्वदृष्टि को सामने रखते हुए दीनदयाल जी ने आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाओं एवं आवधारणाओं का विचार किया था। उसमें आर्थिक नियोजन का भी समावेश होता है। आर्थिक विचार एवं उद्देश्य भी उसमें आते हैं। मानव-मूल्यों एवं सांस्कृतिक मूल्यों के रक्षण एवं पोषण की चिंता उनके आर्थिक चिंतन में निहित है। केवल अर्थशास्त्रीय विश्लेषण या मीमांसा उन्होंने नहीं की।

दीनदयाल जी के विचारों की दिशा कम्युनिज्म के भी परे जाने वाली है। जनतंत्रीय रीति से, किन्तु सनातन मूल्यों को न छोड़ते हुए भारत की सर्वांगीण पुनर्रचना करना उसका ध्येय है। उनके समय में कम्युनिज्म की वैचारिक चुनौती प्रबल थी, इसलिए अर्थनीति पर बल देना आवश्यक था। दीनदयाल जी के 'भारत की अर्थनीति : विकास की एक दिशा' शीर्षक निबंध में उनके आर्थिक विचार आये हैं। सूत्र रूप में वे यहाँ प्रस्तुत हैं।

भारत के जीवन का नियन्ता धर्म है। किन्तु यह धर्म केवल आध्यात्मिक भी नहीं। चाणक्य ने कहा है—सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्यः मूलं अर्थः। अर्थात् सुख धर्माधिष्ठित होना चाहिए। अर्थ के बिना धर्म टिकेगा नहीं। यहाँ धर्म का अर्थ समाजधारणा की व्यवस्था है। उसका तात्पर्य है अर्थ का प्रभाव भी न हो। अर्थ जीवन का मानदण्ड हो जाये तो फिर अर्थ साधन नहीं रहता, साध्य बन जाता है। भोग-विलास के कारण मनुष्य पौरुषहीन बनता है। वह वासनाओं के पीछे पड़ता है। जीवन का संतुलन नष्ट हो जाता है। फिर आचरण के मूल्य बदल जाते हैं।

साधन शुद्ध हों, यह आग्रह समाप्त हो जाता है। धर्माचरण छूट जाता है और धन का लोभ अपना प्रभुत्व स्थापित करने लगता है।

जहाँ अर्थ का प्रभाव नहीं होना चाहिए, वहाँ उसका अभाव भी न हो। व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा, उसका सुखी जीवन-यापन, राजनीतिक महत्त्व, सामाजिक व्यवहार आदि बातें पैसे पर ही निर्भर होती हैं। दरिद्रता मनुष्य के नैतिक पतन का कारण बनती है। अर्थ ही दरिद्र मनुष्य का ईप्सित होता है। फलस्वरूप उसके भी जीवन का संतुलन ढह जाता है।

इसीलिए भारतीय अर्थशास्त्र में अर्थ का प्रभाव एवं अभाव दोनों को नष्ट करने वाली संतुलित अर्थव्यवस्था की अवधारणा का समर्थन किया गया है। इसे 'अर्थायाम' कहा गया है। ऐसी अर्थव्यवस्था का निर्माण करना हो तो समाज के मानदंडों में परिवर्तन करना आवश्यक है। अर्थमूलक समाज-व्यवस्था नहीं चलेगी। आर्थिक मानव अर्थमूलक समाज का ही निर्माण करेगा। इसलिए सिद्धांततः आर्थिक मानव की अवधारणा गलत है। सैनिक शूरता के लिए जीता है। ज्ञानपिपासु मनुष्य ज्ञान को ही धन मानता है। शौर्य अथवा ज्ञान का मूल्य पैसे या परिश्रम में नहीं आंका जा सकता। श्रम की प्रतिष्ठा उसके लिए प्राप्त होने वाले मूल्य पर निर्भर नहीं होती, वह उसके धर्मत्व अथवा उद्देश्य पर निर्भर रहती है। पाश्चात्य जीवनदृष्टि एवं भारतीय जीवनदृष्टि में यही मूल्यों का अंतर है। अतः पाश्चात्य अर्थव्यवस्था भारत के लिए उपयोगी नहीं, क्योंकि दोनों के मूल्य-सिद्धांत स्वतंत्र एवं परस्पर-विरोधी हैं। भारतीय मूल्य-सिद्धांत धर्म के साथ जुड़ा हुआ है। पाश्चात्य मूल्य-सिद्धांत अर्थनीति से संलग्न है।

पाश्चात्य अर्थशास्त्र का प्रभाव

अतः भारत के आर्थिक विकास का मार्ग सर्वथा भिन्न होना चाहिए। किन्तु हम लोग पश्चिम के अर्थशास्त्रियों—मार्क्स और मार्शल-की अवधारणाओं में ऐसे जकड़ गये हैं कि उस परिधि के बाहर निकल ही नहीं पाते। हमारे अर्थशास्त्री पाश्चात्य अर्थ-सिद्धांतों का अनुसरण करते हैं। वे स्वयं अपने भारतीय अर्थ-सिद्धांत नहीं खोजते। गांधीवादी अर्थशास्त्र का विचार भी केवल आंदोलन के रूप में सामने आया। पश्चिमी अर्थव्यवस्था की बुरी बातों पर उन्होंने टिप्पणियाँ तो कीं, किन्तु नयी भारतीय अर्थव्यवस्था वे दे नहीं सके।

उसी प्रकार भारत में पाश्चात्य अर्थव्यवस्था का समर्थन करने वाले विद्वानों तथा पश्चिमी उद्योग-प्रणाली के साथ जिनका स्वार्थ जुड़ा है ऐसे लोगों का एक बड़ा वर्ग है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सरकारी नियोजन-प्रणाली भी 'भारतीय' नहीं है। फलस्वरूप स्वतंत्रता के बाद के काल में भी भारत का शोषण ही होता रहा। हमारे ही उद्योगपति तथा कारखानेदार पश्चिमी शोषण-प्रणाली के एजेण्ट बनकर काम कर रहे हैं। हमारा स्वदेशी आंदोलन केवल खादी की टोपी तक ही सीमित रह गया है, बाकी सब कुछ विदेशी हो गया है।"

नियोजन की आलोचना

दीनदयाल जी द्वारा की गयी भारतीय नियोजन-प्रणाली की आलोचना

मौलिक हुआ करती थी। उन्होंने दूसरी पंचवर्षीय योजना की आलोचना करते हुए कहा था–"दूसरी योजना मूलतः अभारतीय है। भारतीय समाज-रचना की विशेषताओं का ध्यान उसमें नहीं रखा गया है। आर्थिक पुनर्रचना कोई हवाई किला नहीं है। स्वावलंबन हमारे नियोजन का मुख्य विचार-सूत्र होना चाहिए। संसार के एक भाग में जो औद्योगिक विकास हुआ है उसे दूसरे भाग पर थोपा नहीं जा सकता। खेती एवं उद्योग के बारे में हमारे पास अपना दृष्टिकोण होना चाहिए। तंत्रविद्या आयात करने की अपेक्षा अपनी परिस्थिति के अनुरूप नया तंत्र-विज्ञान हमें खोजना चाहिए। सबके लिए सेवायोजन (रोजगार) प्रदान करने वाला एवं मानव-मानव के बीच विषमता को कम करने वाला तंत्र-विज्ञान हमें चाहिए। ऐसा करने से लोगों का रहन-सहन ऊँचा उठेगा। आधुनिक पाश्चात्य तंत्र-विज्ञान का विकास भी इसी दिशा में हो रहा है। परन्तु आर्थिक मंदी से पहले के तंत्र-विज्ञान एवं आर्थिक अवधारणाओं पर दूसरी पंचवर्षीय योजना आधारित है।" (आर्गनाइजर, २९ सितम्बर, १९५८) इसी लेख में दीनदयाल जी ने नियोजन-प्रणाली, योजना आयोग एवं राष्ट्रीय विकास परिषद् में परिवर्तन करने का सुझाव रखा था। उनका कहना था कि "योजना की अवधि बढ़ानी चाहिए। दूसरी योजना के विकास के चरण बदलने चाहिए। योजना में अनेक अविभाज्य विकास-योजनाएं हैं। उनमें कटौती करना अनिष्टकर होता है और सरल भी नहीं होता। कई बार पर्याप्त धन नहीं होता जिसके फलस्वरूप विकास के अग्रक्रम बदलने पड़ते हैं। इसीलिए योजना पाँच वर्षों तक ही सीमित रखी नहीं जा सकती। आर्थिक विकास एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया है, अतः उसकी योजनाओं को समय की सीमा में बांधा नहीं जा सकता। लक्ष्यों के इष्टांक निर्धारित करने से योजना-व्यय भी अधिक होता है। इष्टांक साध्य नहीं हुआ तो निराशा होती है। इसके अतिरिक्त भारत की पंचवर्षीय योजनाएं हर पाँच वर्ष के बाद आने वाले चुनाव के साथ जुड़ गयी हैं। योजना की अवधि बदल दी गयी तो सभी जनता का सहयोग एवं सहभाग प्राप्त करना भी संभव होगा। सरकार को चाहिए कि इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनाकर ये परिवर्तन करे। राष्ट्रीय विकास परिषद् में विगत मई मास में जो चर्चा हुई वह वास्तविकता एवं उत्तरदायित्वों से हटकर हुई। भारत में नियोजन निष्ठा एवं उत्तरादायित्व से युक्त न होकर राजनीति का खिलौना बन गया है। अतः पहले योजना आयोग की पुनर्रचना करना आवश्यक है। राष्ट्रीय विकास परिषद की रचना भी बदलनी चाहिए। नियोजन-प्रणाली नीचे गाँवों तक पहुँचनी चाहिए। सर्वदलीय परामर्श मंडल गठित करने चाहिए। योजना प्रत्यक्ष में आर्थिक स्थिति का विचार करने के बाद तैयार करनी चाहिए, किसी विचारधारा के अनुसार नहीं।" ब्रिटेन द्वारा १९४८ में तैयार की गयी हमारे आर्थिक विकास की योजना के लिए निश्चित मार्गदर्शक सूत्रों में राजनीतिक एवं आर्थिक वस्तुस्थिति दोनों का विचार किया गया था, ऐसा भी दीनदयाल जी ने इस लेख में लिखा है।

भारतीय अर्थरचना के राष्ट्रीय लक्ष्य

भारत की अर्थव्यवस्था के सामने कौन से लक्ष्य हों ? इसका विवेचन करते हुए दीनदयाल जी ने कहा था–"हमारे देश को दीर्घ प्रयासों के बाद स्वतंत्रता मिली

है। अतः इस राजनीतिक स्वतंत्रता को जो सुरक्षित रखे, ऐसी व्यवस्था हमें करनी चाहिए। यही हमारा प्रथम लक्ष्य है। दूसरी बात, हमारी जनतंत्रीय प्रणाली जिससे संकट में पड़ जाये या जो उसके लिए बाधक सिद्ध हो, ऐसा आर्थिक नियोजन हम न करें। तीसरा लक्ष्य है, हमारे सांस्कृतिक मूल्य अपने राष्ट्रजीवन के लिए ही नहीं, सारे संसार भर के लिए भी अत्यंत उपयोगी हैं, अतः उनकी रक्षा करनी है। अपनी संस्कृति को खोकर हम आर्थिक समृद्धि लाते हैं, तो वह व्यर्थ सिद्ध होगी। चौथा लक्ष्य हमें सैनिक दृष्टि से आत्मरक्षा में समर्थ बनाने का होना चाहिए। पाँचवाँ लक्ष्य आर्थिक स्वावलंबन का हो। जो राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर निर्भर रहता है उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। स्वाभिमानशून्य राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कभी नहीं कर सकता। राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा करनी हो तो आर्थिक स्वतंत्रता परमावश्यक है। आर्थिक स्वतंत्रता के लिए आर्थिक स्वावलंबन आवश्यक है। छठा लक्ष्य है, प्रजातंत्र में वयस्क मताधिकार की भांति हर हाथ को काम देने वाली अर्थव्यवस्था। काम की भांति न्यूनतम वेतन, न्यायोचित प्राप्ति एवं उसका न्यायोचित वितरण भी सामाजिक हित के लिए आवश्यक होते हैं। इसके लिए प्राप्ति की सीमा निर्धारित करना आवश्यक है। उपभोग की निरंकुश स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। व्यक्ति-स्वातंत्र्य या व्यक्ति-साहस का पूंजीपति या कारखानेदार जो अर्थ लगाते हैं उसका अभिप्राय उनका अपना स्वातंत्र्य ही होता है। हमें गिने-चुने टाटा-बिरला की स्वतंत्रता नहीं चाहिए, करोड़ों मानवों की स्वतंत्रता चाहिए। अतः केन्द्रीकरण के हम विरोधी हैं। पूंजीवाद में विमुक्त व्यक्ति-स्पर्धा धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है और आर्थिक शक्ति मुट्ठीभर लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। समाजवाद में यह आर्थिक शक्ति शासन के अधिकारों में चली जाती है और अंत में वह नौकरशाही के हाथों में खेलने लगती है। फलस्वरूप मानव-जीवन 'मशीन' बन जाता है। इन दोनों ही प्रणालियों में मनुष्य का विचार आर्थिक साधन के नाते किया जाता है, मनुष्य के नाते नहीं। इसीलिए पूंजीवाद एवं समाजवाद दोनों से मुक्त होकर मानववाद का विचार करना होगा। तंत्र-विज्ञान का उपयोग भी मानव के लिए होना चाहिए। इसके लिए विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताओं एवं उसके गुणों का विचार कर उसे सुयोग्य काम देने से ही मनुष्य का विकास होता है। विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में ही यह संभव है। एक बार बड़े कारखाने प्रारंभ हो गये तो उन्हें बंद करने के लिए कई बातों का विचार करना पड़ता है, अतः अगला पग उठाने से पूर्व ही इस दिशा में सोचना होगा। संक्षेप में, संरक्षण, पूर्ण सेवायोजन (रोजगार), मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रबंध तथा विकेन्द्रीकरण ही जनसंघ की अर्थरचना के लक्ष्य हैं।

सारांश : दीनदयाल जी की चिंतन-प्रणाली जहाँ मूलगामी थी, वहीं वह विश्लेषक एवं एकात्म भी थी। मानव-जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों अंगों का सुयोग्य पोषण करने वाली पद्धति वे विकसित करना चाहते थे। मूल्य-विचार, मूल्य-निष्ठा तथा मूल्यों को संजोये चलने वाली सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन-रचना दीनदयाल जी के विचारों का सार है।

५.

दल-संगठक दीनदयाल जी

दीनदयाल जी जनसंघ के विचारदाता थे। वे स्वयं मूलगामी चिंतक कैसे थे, इसकी चर्चा पिछले अध्याय में हमने की। किन्तु १९५२ में दीनदयाल जी जनसंघ के महामंत्री बने। डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी का विश्वास उन्होंने अर्जित किया। जनसंघ दल का संगठन खड़ा करने का काम दीनदयाल जी को सौंपा गया। कार्य-क्षेत्र नया था और उनके कर्तृत्व को चुनौती देने वाला भी। रा. स्व. संघ में १३ वर्ष तक कार्य करने के कारण संगठन-कौशल उनके रक्त में ही था।

जनसंघ की स्थापना १९५१ में हुई। स्वाधीनता प्राप्त होकर चार वर्ष हो गये थे। कांग्रेस के हाथ में शासन-सत्ता थी। राजनीतिक दल के नाते कांग्रेस का संगठन कभी नहीं हुआ था। वह एक आंदोलन था। जनतंत्र में आदर्शवादी दल और दल का अनुशासन मानने वाले कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती है। आदर्श के अनुसार कार्यक्रम तैयार किया जाता है। उस कार्यक्रम को लेकर लोगों में जाना पड़ता है। कांग्रेस ने यद्यपि आदर्शवाद का मुखौटा पहना था और कार्यक्रम भी तैयार किया था, आदर्शवादी दल का संगठन एवं कार्यकर्ता उसके पास नहीं थे। चुनाव लड़ने के लिए एकत्र होना तथा सत्ता-प्राप्ति के बाद उसको बाँट लेने के लिए आपस में होड़ लगाना और सत्ता-स्पर्धा की राजनीति प्रारंभ करना, यही गोरखधंधा कांग्रेस में चलता था। गांधी जी का पुण्य कुछ वर्ष तक तो कांग्रेस के काम आया। बाद में नेहरूजी की लोकप्रियता कांग्रेस की चुनाव-पूंजी बन गयी। कांग्रेस में ध्येयात्मक परिवर्तन कभी हुआ ही नहीं। बाजारू प्रवृत्ति के लोग कभी कार्यकर्ता नहीं बन सकते। अतः कांग्रेस सत्ता प्राप्त करने का एक यंत्र (मशीन) मात्र बन गयी। इसी में से कांग्रेस का पतन प्रारंभ हुआ। फिर राज-सत्ता प्राप्त करने के लिए जाति, भाषा, धर्म, प्रदेश आदि के बारे में संकीर्ण निष्ठाओं का संरक्षण वे करने लगे। धार्मिक अल्पसंख्यकों का तुष्टीकरण कांग्रेस का सिद्धांत बन गया। उनके इकट्ठा मत दिलाने वाले ठेकेदार पैदा हो गये। राज-सत्ता का जनता के साथ कोई संबंध शेष रहा नहीं था। परिणामस्वरूप जनतंत्र का अर्थ एकदलीय लोकतंत्र होने लगा। उसके साथ ही व्यक्ति की महत्ता का बोलबाला प्रारंभ हुआ। देश सिद्धांत से व्यक्ति की ओर जा रहा था। कांग्रेस वाले जानते थे कि व्यक्ति-पूजा सत्ता प्राप्त करने का मार्ग है। नेहरूजी को प्रसन्न रखें और अपने कुकर्मों का सिलसिला भी चालू रखें, यह प्रथा सी पड़ गयी। दरबारी राजनीति का प्रारंभ हुआ। किसी खेल में दर्शकों की जो भूमिका

होती है, वही भूमिका पाँच वर्ष बाद फिर से चुनाव होने तक मतदाताओं की बन गयी। यह जनतंत्र का भ्रष्ट रूप था।

इस अवस्था का मुख्य कारण देश में ध्येयवादी विरोधी दल का न होना था। जनतंत्र में सामान्य जनता में किन्हीं गुणों की आवश्यकता होती है। उनके बिना जनतंत्र सफल नहीं होता। भारतीय समाज इस दृष्टि से प्रगत नहीं हुआ था। राजनीति व्यक्ति एवं जाति का स्वार्थ पूरा करने का साधन बन गयी थी। स्वराज्य के लिए लड़ते समय समाज में जो गुण निर्मित हुए थे उनसे भिन्न प्रकार के गुणों की प्रजातंत्र को सफल बनाने के लिए आवश्यकता होती है, इसका भान हमें नहीं रहा। फलस्वरूप जनतंत्र की व्यवस्था तो आ गयी, किन्तु उसे सफल बनाने के लिए आवश्यक गुण साथ में नहीं आये। किंबहुना, ऐसे गुण समाज में निर्मित हों, ऐसा प्रयास भी किसी ने नहीं किया। वैयक्तिक आचरण की भांति सामाजिक आचरण में भी चरित्र आवश्यक होता है। मनुष्य के जीवन की भांति समाज के व्यवहार में भी अनुशासन आवश्यक होता है। सदाचार एवं निष्ठा जहाँ व्यक्तिगत गुण हैं, वहाँ वे सामाजिक भी हैं। राजनीति अन्ततः समाज का ही व्यवहार होता है। उसे सुचारु रीति से चलाना हो तो इन सभी गुणों की आवश्यकता होती है। कांग्रेस ने इन गुणों के निर्माण करने का प्रयास कभी नहीं किया। उल्टे समाज में व्याप्त भिन्नताओं एवं कलहों का लाभ उठाकर उसने राज-सत्ता प्राप्त की।

दीनदयाल जी की दल-अवधारणा

दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक दल के बारे में कुछ निश्चित विचार थे। वे कहा करते थे कि, "आज भारत में राजनीतिक दलों में बहुत सी त्रुटियाँ हैं। दल की दृष्टि से देखा जाय, तो कांग्रेस सबसे निचले स्तर का दल है। आज राजनीतिक दलों का संगठन किसी भी लक्ष्य को सामने रखकर नहीं किया जाता। वह एक व्यक्ति या गुट के आधार पर ही खड़ा होता है। केवल आदर्शवाद के होने से भी वह उपयोगी नहीं हो जाता। आदर्शवाद राष्ट्रहित के साथ जुड़ा हुआ होना चाहिए। कम्युनिस्टों के पास आदर्शवाद है, किन्तु वह जनतंत्र के मूल पर आघात करने वाला है। अनुशासनबद्ध दल एवं निष्ठावान नेतृत्व की आज नितांत आवश्यकता है। स्वतंत्र समाचारपत्र, स्वतंत्र न्याय-प्रणाली और स्वच्छ तथा कार्यकुशल प्रशासन सफल जनतंत्र के लिए आवश्यक है। जनतंत्र में एक से अधिक दल तो होंगे ही, किन्तु इन दलों को एक आचार-संहिता का या पंचशील का पालन करना चाहिए। दल बदल को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। तभी देश में स्थिर शासन आयेगा और अनुत्तरदायी राजनीति नहीं चलेगी।" (आर्गनाइजर, २७ फरवरी, १९६१)

दीनदयाल जी ने जनसंघ की भूमिका को स्पष्ट करते हुए सन् ५६ में कहा था—"हमें देश में शांतिपूर्ण मार्गों से आर्थिक एवं सामाजिक क्रांति करनी है। किन्तु उसके लिए आज का पारिवारिक नेतृत्व काम का नहीं, क्योंकि ऐसी क्रांति के फलस्वरूप अपने अपदस्थ हो जाने का भय इस नेतृत्व को लगता है और वह समय के साथ आगे बढ़ने वाले आदर्शवाद के मार्ग से पीछे मुड़ जाता है। इसके अतिरिक्त ये सब नेता एक विशेष आयु के हो चले हैं। वास्तव में यह नयी और पुरानी पीढ़ी का

संघर्ष है। सच पूछा जाये तो ऐसे संघर्ष से ही प्रगति हुआ करती है। हम यह भली-भाँति जानते हैं कि आज का वृद्ध नेतृत्व क्रांति के लिए अपना समर्थन नहीं देगा। जनसंघ के कार्यकर्ता नये नेतृत्व का निर्माण करने के लिए उत्सुक हैं। जनसंघ इस देश को नया नेतृत्व देना चाहता है। किन्तु नेतृत्व का निर्माण करने के पुराने मार्ग अब बदलने होंगे। उसके लिए प्रदर्शनात्मक राजनीति का मार्ग नहीं होगा। अतः गलत मार्ग छोड़कर लक्ष्य प्राप्त कराने वाले सही मार्ग पर हमें आगे बढ़ना होगा। नारेबाजी, जुलूस, जय-जयकार आदि का भी एक नशा हुआ करता है। उनके द्वारा सच्चे राजनीतिक नेता का निर्माण नहीं होता। नेतृत्व को अपने आप उभरने दीजिए, कृत्रिम उपायों से उसे ऊपर उठाना किसी काम का नहीं।

अतः जनतंत्र की सफलता और अपने दल के हित के लिए सामान्य जन को ही हम अपना लक्ष्य बनायें। अनाड़ी प्रतीत होने वाला सामान्य व्यक्ति वास्तव में बुद्धिमान होता है। वह शूरों से भी अधिक शूर होता है। भारतीय जनसंघ ऐसे सामान्य जन का संगठन बने, यह मेरी धारणा है।" (जनसंघ विशेषांक, आर्गनाइजर, १९५६)

सर्वथा नया कार्यक्षेत्र

एक अर्थ में जनसंघ का प्रारंभ राजनीतिक क्षेत्र में दल-निष्ठा के साथ जनतांत्रिक अनुशासन एवं आदर्शवाद के आधार पर भारतीय जनता को संगठित करने का पहला प्रयास था। कम्युनिस्टों की प्रणाली जनमत को भड़काकर तथा आंदोलन के माध्यम से जन-संगठन खड़ा करने की थी। व्यक्तिगत शुद्ध आचरण तथा सामाजिक सदाचार की अपेक्षा व्यक्तिगत 'कठोर' अनुशासन, अध्ययन एवं सामुदायिक असंतोष पर ही उनकी कार्यप्रणाली निर्भर थी। क्रांति की मदहोश धुन में अफीम की लत की भाँति व्यक्ति एवं लोगों को काम में जोतकर त्याग के लिए सिद्ध करना तथा भड़कीली भाषा में उन्माद को अभिव्यक्त करना कम्युनिस्ट कार्य-शैली की विशेषताएं हैं। उसे एक जगतिक स्वरूप भी प्राप्त है। शुद्ध आचरण तथा शुद्ध साधनों का आग्रह कम्युनिस्टों में नहीं हुआ करता। गांधी जी ने कई सत्याग्रह-आंदोलन चलाये, किन्तु चिरंतन समाज-सेवा की दीक्षा लिये हुए जीवनव्रती या सत्याग्रही उनके आंदोलन से बड़े संगठन के रूप में पैदा नहीं हुए। कांग्रेस तो सत्तावादियों का ही दल था और है। लोकतंत्रीय शासन-प्रणाली लोकहित की भावना से चलानी हो, तो उसके लिए राजनीति को लोक-सेवा का व्रत मानने वाले और वैसी अव्यभिचारी निष्ठा रखने वाले कार्यकर्ताओं के एक बड़े वर्ग की आवश्यकता होती है। लोगों में ऐसी अटूट श्रद्धा रखते हुए सामान्य जनता का नेतृत्व करने वाले संगठक-कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती है। दीनदयाल जी स्वयं ऐसे कार्यकर्ता थे। संघ-जीवन में कार्यकर्ता-निर्माण करने का अनुभव उनके पास था। अब भलमनसाहत एवं सत्प्रवृत्ति के लिए चुनौती बने हुए राजनीतिक क्षेत्र में ऐसे कार्यकर्ताओं का निर्माण उन्हें करना था। स्वतंत्रता के लिए लड़ते समय आवेश दिलाने वाले युद्ध-प्रसंग भी प्रायः शत्रु के साथ आते थे। वह भी त्याग करने के लिए प्रेरित करने वाला तथा शुद्ध आचरण कराने वाला एक उन्माद ही होता है।

उसमें भी एक 'नशा' होता है। किन्तु प्रजातंत्र में राजनीति करने वालों को पहला संघर्ष अपने मन में बसने वाले काम, क्रोध, लोभ तथा लोकैषणा आदि शत्रुओं से करना पड़ता है। जैसा कि संत तुकाराम ने कहा है—"रात्रंदिन आम्हा युद्धाचा प्रसंग। अंतर्बाह्य जग आणि मन"। यह संघर्ष दिन-रात चलता रहता है। कभी समाप्त नहीं होता। दीनदयाल जी को जनसंघ के लिए ऐसे कार्यकर्ताओं का निर्माण करना था। आदर्श कार्यकर्ताओं की दो मुख्य अवधारणाएं उनके मन में थीं। एक, कार्यकर्ता निर्वैर भावना से काम करने वाला हो। दूसरी, वह लोकमित्र, लोकशिक्षक तथा लोगों का हितैषी हो। दीनदयाल जी कहा करते थे—"जनसंघ का राष्ट्रीय विचार चारों ओर छा जाये। आज का विरोधी कल हमारा मतदाता बने। कल का मतदाता परसों हमारा सदस्य और परसों का सदस्य हमारा सक्रिय कार्यकर्ता बने।"

दूसरा सूत्र 'इदं न मम' वृत्ति से समाज के दीन-दलितों के प्रति ममत्व की भावना रखने वाली सामाजिक प्रतिबद्धता का था। तीसरा सूत्र समाज-परिवर्तन का था। जनसंघ के संगठन एवं कार्यकर्ताओं का निर्माण इन तीनों सूत्रों के माध्यम से करने का दीनदयाल जी ने निश्चय किया था।

पद्धतिपूर्वक अध्ययन

समर्थ रामदास ने कहा था—"अध्ययन द्वारा ही प्रकट हो।" रामदास स्वामी के इस वचन का दीनदयाल जी सदैव पालन करते थे। किसी विषय का अध्ययन करना हो, तो उसके सभी पक्षों का अध्ययन करना चाहिए। जनसंघ का संविधान तैयार करने तथा दल की कार्य-प्रणाली निश्चित करने का दायित्व उन पर आ पड़ा तो उन्होंने भारत तथा विश्व के सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दलों के संविधानों एवं कार्य-प्रणालियों का अध्ययन किया। मन में जनसंघ की जो रूपरेखा उन्होंने बनायी थी उसे ध्यान में रखकर, दूसरों की अच्छाइयों को आत्मसात् करने का उन्होंने निश्चय किया। कांग्रेस की निधि एकत्रित करने की रीति-नीति उन्हें अच्छी नहीं लगी। उन्होंने उसे टालने का निश्चय किया। कम्युनिस्टों के अध्ययन-शिविरों की प्रथा उन्हें रुचिकर लगी थी। रा.स्व. संघ की गुरुदक्षिणा-प्रथा में सामान्य जन का स्वयंस्फूर्त सहभाग उन्हें अनुकरणीय प्रतीत हुआ। प्रादेशिक संगठन-मंत्री की प्रणाली भी इसी प्रकार बनी। निष्ठावान तथा कार्यक्षम संगठन-मंत्री हों तो अध्यक्ष के बदलने पर भी संगठन की चौखट बराबर बनी रहती है। गांधी जी की भांति दीनदयाल जी ने भी आग्रह रखा था कि हरिजनों एवं महिलाओं को संगठन में सहभागी करना ही चाहिए। जनसंघ के संविधान में उन्होंने वह प्रावधान आग्रहपूर्वक करवा लिया था।

कार्यकर्ताओं का बल

दीनदयाल जी हजारों कार्यकर्ताओं के साथ व्यक्तिशः संबंध रखने वाले नेता थे। मन से वे सदैव कार्यकर्ताओं के साथ किन्तु विचार में सबसे आगे रहते थे। दीनदयाल जी का वर्णन 'कार्यकर्ताओं के नेता' (ग्रास रूट लीडर) कहकर करें तो वह गलत नहीं होगा।

दीनदयाल जी दल-संगठन का एक भव्य प्रयोग करने में लगे थे। उनकी मुख्य अवधारणा थी कि कार्यकर्ता को जनता के साथ सम्पर्क रखने वाला एवं संवाद करने वाला नेता बनना चाहिए। उन्होंने राजनीतिक दल के संगठन को सम्मान का स्थान प्राप्त करा दिया। कार्यकर्ताओं के साथ सतत सम्पर्क रखने वाले दीनदयाल जी का इस प्रसंग में जो कार्य था, उसकी विस्तृत चर्चा श्री ब.ना. जोग ने अपनी (राजनीति राष्ट्र के लिए) पुस्तक में की है। उन्होंने कहा है—"दीनदयाल जी विचार एवं बुद्धि से पूर्णतः स्वतंत्र थे। स्वतंत्रता उनकी आंतरिक उर्मि थी और पग-पग पर तथा हर शब्द में उसको अनुभव किया जा सकता था। दल-नीति, राजनीति तथा राष्ट्रनीति में किसी के भी दबाव में आकर कार्य नहीं करना चाहिए, इस पर वे सदैव बल दिया करते थे और वह स्वाभाविक भी था। उन्हें सत्ता प्राप्त करनी थी, कल्याणकारी योजनाओं को व्यवहार में लाना था, किन्तु इसके लिए वे जनता एवं प्रशासन-तन्त्र के बीच नये बिचौलियों का निर्माण नहीं करना चाहते थे। प्रत्युत् जनता, दल, सिद्धांतों तथा देश के साथ प्रतिबद्धता रखने वाले कार्यकर्ताओं की सहायता से वे यह कार्य करना चाहते थे। नौकरशाही के माध्यम से जन-कल्याण (वेलफेयर ब्यूरोक्रेसी) की बात उनकी अवधारणा में नहीं बैठती थी। उन्हें कार्यकताओं का निर्माण करना था और उन कार्यकताओं के बल पर देश का सारा चित्र बदलना था। उनका मानना था कि कांग्रेस के हाथ में सत्ता का अर्थ दुर्योधन के हाथ में सत्ता है। इन कार्यकर्ताओं के बल पर तथा जनता के सहयोग के भारत के चित्र को वह बदलना चाहते थे। दल, राजनीति, सत्ता, सब उनके साधन थे।"

"दीनदयाल जी चाहते थे कि चुनाव के लिए प्रत्याशी या दल के कार्यकर्ता जनसेवा के लिए समर्पित हों। दल के सदस्य के नाते वे दल के अनुशासन का पालन करते हुए दल का कार्य दत्तचित्त होकर करें। इतना गहन एवं व्यापक आशय दीनदयाल जी के मन में था। आजकल (या उन दिनों भी) कांग्रेस का कार्यकर्ता सरकार में लोगों के काम करा देने वाला एक दलाल बन गया है। जो भी प्राप्त करना हो वह 'आधा तुझे, आधा मुझे' की रीति से नौकरशाही और दल में बाँट लेना ही मानो मार्गदर्शक सिद्धांत बन गया है। ऐसी ही भावना समाज में दृढ़मूल करने वाला आचरण सर्वत्र चल रहा है। दीनदयाल जी के मन में निःस्वार्थ कार्यकर्ता की अवधारणा यह थी कि वह भ्रष्टाचार की उस गन्दी नाली को स्वच्छ करेगा। चुनाव-निधि में बड़ी-बड़ी राशियाँ एकत्रित करने के कारण ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार का बोलबाला हो जाता है। इसलिए उनका आग्रह था कि उन कार्यकर्ताओं के द्वारा ही चुनाव-निधि एकत्रित की जाय जो यह मानते हैं कि जनसंघ अपने ध्येय एवं नीतियों पर चलकर ही सत्ता में आये।"

"कार्यकर्ता का निर्माण करते समय वे छोटी-छोटी बातों का भी ध्यान इस प्रकार रखते थे। कार्यकर्ता अपना कार्य करते समय जाति-पाँति का विचार भी मन में न आने दें। यही नहीं, चुनाव में प्रत्याशी खड़े करते समय या उनके निर्वाचन-क्षेत्र का विचार करते समय भी जाति-पाँति का विचार कभी न हो, इस पर वे सदैव बल दिया करते थे। "प्रत्याशी की योग्यता का ही विचार करना चाहिए। वह सभी दृष्टियों से सुयोग्य हो। वह किस जाति का है या किस बिरादरी का है, इसका विचार

भी मन में नहीं लाना चाहिए।" ऐसा आग्रहपूर्वक बताते हुए उन्होंने डा. राममनोहर लोहिया के चुनाव का उदाहरण दिया था। डा. लोहिया को उत्तर प्रदेश के एक चुनाव-क्षेत्र में प्रत्याशी बनाने से इन्कार इसलिए किया गया था कि उस चुनाव क्षेत्र में जिस जाति का प्रभुत्व था, डा. लोहिया उस जाति के नहीं थे।"

"किन्तु दीनदयाल जी ने अपने उन कार्यकर्ताओं को, जो सदा सर्तकतापूर्वक अपने कार्य तथा अपने द्वारा निर्मित कल का भारत कैसा हो, इसी की ओर ध्यान दिया करते थे, कभी नियंत्रण से बाहर नहीं होने दिया। उनके जैसा कठोर संयम जिन्होंने देखा नहीं था वे कार्यकर्ता उनसे नाना प्रकार के प्रश्न किया करते थे। किन्तु दीनदयाल जी उन्हें समझाने-बुझाने के स्वर में कहते थे—"अपने इस रोष को कार्य में रूपांतरित करो। अपनी इस अशांति को जनता तक पहुँचाओ।" इसके लिए वे नाना प्रकार के तर्क भी दिया करते थे। कभी तिलक जी पर अंग्रेजों ने यह दूषण लगाया था कि वे 'राजनीतिक अशान्ति के जनक' हैं। किन्तु वही दूषण तिलक जी के लिए भूषण बन गया। तिलक जी के बाद (५० वर्ष के पश्चात्) दीनदयाल जी भी कांग्रेस के विरुद्ध अशांति के जनक सिद्ध हुए।"

दल की अवधारणा

भारतीय जनसंघ यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से अनुभव में नया था, उसके पास राजनीतिक कल्पकता थी। दीनदयाल जी ने जहाँ उसे एक चिंतन दिया तथा दल का संगठन खड़ा किया, वहीं उन्होंने उसे राजनीतिक दल की अपनी अवधारणाएं भी दीं। उन अवधारणाओं को उन्होंने व्यवहार में लाकर दिखाया। मानवेन्द्रनाथ राय उन दिनों दलविहीन राजनीति का दर्शन प्रस्तुत कर रहे थे। मानवतावादी राजनीति वे लाना चाहते थे। वे कहा करते थे कि राजसत्ता की राजनीति के स्थान पर स्वतंत्रता की राजनीति हम करना चाहते हैं। वे सिद्ध करना चाहते थे कि राजसत्ता की आकांक्षा रखे बिना भी राजनीति की जा सकती है।

एक आदर्श के रूप में यह स्वप्नरंजन ठीक ही है। दीनदयाल जी की दल की अवधारणा में भी एक प्रकार का स्वप्नरंजन ही था। किन्तु उसमें पुरुषार्थ तथा प्रयत्न भी था। उन्होंने कहा था, "अच्छा दल किसे कहा जाये? दल व्यक्तियों का समुदाय मात्र नहीं है, केवल सत्ता की आकांक्षा न रखते हुए विशिष्ट ध्येयवाद से प्रेरित समूह को ही राजनीतिक दल कहा जाता है। ऐसे दलों के सदस्यों के लिए सत्ता साध्य न होकर विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति का एक साधन होती है। समर्पण की भावना उनमें प्रबल होती है। इसी भावना से अनुशासन आता है। अनुशासन केवल कठोर बाह्य नियमों का पालन नहीं होता। वह ऊपर से लादे जाने की अपेक्षा अन्तःकरण की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ हो, तभी चिरस्थायी रहता है। धर्म का समाज-जीवन में जो स्थान है, वही दल के जीवन में अनुशासन का होता है। समर्पण-वृत्ति या भक्ति तथा अनुशासन दोनों बातें दल में हों, तो उसमें गुटबाजी उत्पन्न नहीं होगी। उसमें एक दूसरे के विरुद्ध खड़े गुट नहीं बनेंगे। जब दल के हितों की अपेक्षा स्वहित को प्रधानता मिलती है, तभी गुटबाजी प्रारम्भ होती है। विकृत तथा अहम्मन्य वृत्ति का वह सामाजिक प्रकटीकरण होता है। दल में

गुटबाजी हो तो वह प्रभावशून्य हो जाता है। तीसरा गुण यह है कि किसी भी दल का निर्माण विशिष्ट ध्येय-प्रणाली के लिए ही होना चाहिए। दल की रीति-नीतियाँ उस ध्येय-प्रणाली के अनुसार निश्चित की जानी चाहिए। राजनीतिक सुव्यवस्था एवं अवसरवादिता में वास्तविक संगति नहीं होती। ध्येय पर निष्ठा सिद्धांत का आग्रह रखने वाले मनुष्यों का गुण होता है, अवसरवादी तथा विवेकशून्य मनुष्यों का नहीं। राजनीतिक दल और उनके नेता अपने प्रत्यक्ष आचरण द्वारा राजनीति में जीवन-मूल्यों का निर्माण करते हैं। समाज का आचरण कैसा हो? इसके नियम उसमें से बनते हैं। स्वभावतः ये लोग जो रीति-नीतियाँ बनायें, वे उन मूल्यों के अनुसार ही होनी चाहिए। जनतंत्र का अर्थ केवल चुनाव नहीं है। उसके लिए सुसंगठित लोगों की आवश्यकता होती है। सुसंगठित तथा ध्येयवादी राजनीतिक दल ही राजनीतिक आचरण की अच्छी प्रथाओं का निर्माण कर सकते हैं।" (आर्गनाइजर, ११ दिसम्बर, १९६१)

राजनीतिक दल के दो अंग

दीनदयाल जी की अवधारणा थी कि जनसंघ एक सुसंगठित अनुशासनबद्ध तथा समर्पित वृत्ति का राजनीतिक दल बने। उन्होंने कहा था—"हमें यह दिखा देना है कि जनसंघ अन्य दलों से भिन्न है। सत्ता के लिए सिद्धांतों को तिलांजलि दे देने वाले दलों की हमारे देश में कोई कमी नहीं है। हम भी सत्ता अवश्य चाहते हैं और हम उसे प्राप्त करेंगे भी, किन्तु हमारी दृष्टि कुर्सी से परे भी है। हम उस दृष्टि को कभी हटने नहीं देंगे और अपना ध्येय छोड़ेंगे नहीं।" (विजयवाड़ा अधिवेशन में दिया भाषण—जनवरी, १९६५)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद राजनीतिक दलों ने विकास के कार्यक्रम बनाये। चुनाव में उनका प्रचार किया जाता था। कांग्रेस ने पंचवर्षीय योजना तैयार की। सारा सरकारी तंत्र (मशीनरी) उसके लिए काम में जुटाया गया। राजनीति को विकास का एक नया आयाम प्राप्त हुआ। लोकहित के विधान विधिमंडलों में पारित किये जाने लगे। इन सब गतिविधियों पर सतर्क दृष्टि रखना आवश्यक था। परिणामस्वरूप लोक-प्रतिनिधि के नाते चुने जाने वाले कार्यकर्ता राजनीति का नया विभाग बन गये। किन्तु दल के सभी कार्यकर्ता विधायक या सांसद नहीं बन सकते। दल का संगठन करने के लिए कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती है। सरकार के साथ संबंध आने के कारण विधानसभा या संसद को समाज एवं सरकार में प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी थी। स्वाभाविक था कि राजनीतिक दल में एक प्रकार की मानसिक कटुता एवं स्पर्धा उत्पन्न होने लगी। लोकप्रतिनिधियों का वर्ग सिरचढ़ा होने लगा। कांग्रेस में तो दो धड़े हो गये, क्योंकि कार्यकर्ताओं ने भुला दिया था कि सत्ता जनसेवा के लिए होती है। सत्ता के कारण प्राप्त होने वाले मान-सम्मान एवं प्रतिष्ठा के कारण उनमें अहंकार उत्पन्न हो गया। दीनदयाल जी ने प्रारम्भ से ही सावधानी बरती थी कि जनसंघ में इस प्रकार के झगड़े न हों तथा कार्यकर्ताओं में सेवा-भावना बनी रहे। विधायक एवं रचनात्मक कार्यकर्ता, दल के दो विभाग होते हैं। उन दोनों की प्रतिष्ठा समान मानी जानी चाहिए। जन-सेवा दोनों का बाना होना चाहिए। दीनदयाल जी की इच्छा थी कि ये दोनों विभाग एक दूसरे के पूरक हों। विधायकों

को समाज की समस्याओं की जानकारी देने का काम रचनात्मक कार्यकर्ताओं को करना चाहिए, क्योंकि समाज के साथ उनका लगातार सम्पर्क रहता है। समाज के सुख-दुःखों का बोध उन्हें होता है। सरकार के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत करने और यथासंभव उनके निवारण के कुछ उपाय करने के लिए विधायकों को प्रयत्नशील रहना चाहिए। दूसरी ओर, दल का दर्शन एवं कार्यक्रम लोगों तक पहुँचाने का काम दल के कार्यकर्ताओं का है। दीनदयाल जी ने इन दोनों विभागों को यह बोध लगातार कराया था। परिणामस्वरूप पुनर्रचना का ध्येयवाद जनसंघ के समक्ष सदैव बना रहा।

दीनदयाल जी स्वयं जनता के अनेक प्रश्नों का अध्ययन करते थे। उनका आग्रह रहता था कि दल के नेताओं एवं कार्यकर्ताओं को ऐसे अध्ययन सतत् करने चाहिए। वे अनेक लोगों को विषय बाँट देते थे और उनका अध्ययन करने के लिए कहते थे। उदाहरण के लिए, श्री नानाजी देशमुख को उन्होंने खेती-बाड़ी का अध्ययन करने के लिए कहा था। राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए उन्होंने प्रशिक्षण-वर्ग प्रारम्भ किये थे। उनमें एवं अन्य शिविरों में देश की विविध विचारधाराओं का अध्ययन भी किया जाता था। कई बार विशेषज्ञों को भाषण देने के लिए आमंत्रित किया जाता था।

दीनदयाल जी कार्यकर्ताओं का गुणात्मक स्तर बढ़ाने पर बल दिया करते थे। कार्यकर्ताओं के आचरण के कुछ सिद्धांत वे सतत् सामने रखा करते थे। पहला सिद्धांत था, दल के हित की अपेक्षा देश के हित को श्रेष्ठ मानने की भावना हरेक में होनी चाहिए। दूसरा सिद्धांत था, कार्यकर्ताओं को कार्यक्रम एवं दल के सिद्धांतों पर निष्ठा रखनी चाहिए। व्यक्तिनिष्ठा उनमें न हो। तीसरा सिद्धांत था—ध्येय, सिद्धांत एवं दर्शन यद्यपि राजनीतिक दल के महत्त्वपूर्ण अंग हैं, तो भी जनता की सेवा ही चिरस्थायी सफलता का मर्म है। चौथा सिद्धांत था, कार्यकर्ताओं को आदर्शवादी होना चाहिए। आदर्शवाद को भुला देने के कारण ही कांग्रेस में अवसरवादिता एवं लालच घुस गये। जनसंघ को कांग्रेस का केवल विरोध या उसे सत्ताच्युत ही नहीं करना है, अपितु देश के लिए एक नया आदर्शवाद एवं एक राजनीतिक संस्कृति भी देनी है। कांग्रेस-संस्कृति के नाम से आज पहचानी जाने वाली संस्कृति प्रजातंत्र की जड़ में लगी घुन है। प्रजातंत्र में गहरी पैठ गयी वह राजनीतिक विकृति है। जनसंघ को संस्कृति का निर्माण करना है, यह लक्ष्य उन्होंने अपने सम्मुख रखा था। इसके लिए दीनदयाल जी ने कई रचनात्मक सुझाव दिये और उनके अनुसार आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयास किया। किंबहुना, राजनीति का अधिष्ठान सुसंस्कृत हो, ऐसा आग्रह उन्होंने रखा। दल के कार्यकर्ताओं का इसी दृष्टि से वे स्वयं मार्गदर्शन किया करते थे। जनसंघ के अनेक अध्यक्ष हुए, किन्तु दीनदयाल जी १९५१ से १९६८ तक के काल में दीपस्तंभ की भांति कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन करते रहे। उनका दूसरा आग्रह था, राजनीति में व्यक्तिगत द्वेष नहीं होना चाहिए। विरोधी दल का नेता आग उगलनेवाला, आतताई एवं विरोध के लिए विरोध करने वाला न हो। स्वयं दीनदयाल जी की वाणी मधुर थी। वे चाहते थे कि कार्यकर्ताओं में भी वही माधुर्य होना चाहिए। उनका अनेक विरोधी मतों के नेताओं के साथ संबंध था।

उनमें राजा जी जैसे कुछ वरिष्ठ नेता भी थे। दीनदयाल जी अपने मत के पक्के तथा आग्रही भी थे, फिर भी वे मृदु एवं भले स्वभाव के थे। वे कहा करते थे—"जनसंघ अपना दृढ़ मत भलीभांति रखना चाहता है, इसीलिए वह तात्कालिक विरोध की अपेक्षा चिरकालीन संबंधों को अधिक महत्त्व देता है।"

बहुदलीय राजनीति

दीनदयाल जी का विचार था कि भारत में बहुदलीय प्रणाली आयेगी। जनतंत्र में न केवल एक से अधिक दल हों, अपितु विभिन्न ध्येय-प्रणालियों के प्रसार के लिए भी अलग-अलग दल हों। उनमें स्वस्थ प्रतियोगिता हो। दल-बदल को प्रोत्साहन न मिले। हाँ, ध्येय-प्रणाली न ठीक लगे तो दल छोड़ा जा सकता है। सत्ता के लालच से जो राजनीतिक लोग दल-बदल करते हैं, वे ध्येय के लिए ऐसा नहीं करते। इसीलिए भारत को चाहिए कि अपनी स्वतंत्र राजनीतिक प्रणाली का निर्माण करे। इंग्लैंड जैसी द्विदलीय प्रणाली हमारे यहाँ नहीं चलेगी। हमारे लिए जो अनुकूल हो, वैसी ही प्रणाली यदि स्थापित की जाये, तभी देश को स्थिर सरकार दी जा सकेगी और राजनीतिक दलों में चल रही निर्लज्ज प्रतियोगिता कम हो पायेगी। इसलिए दीनदयाल जी ने राजनीतिक दलों के लिए आचार-संहिता का आग्रह रखा। उनका सुझाव था कि कांग्रेस अच्छे आचरण का उदाहरण स्वयं प्रस्तुत करे। किन्तु कांग्रेस इस प्रकार का आदर्श देने में असमर्थ थी। कांग्रेस छोड़कर बाहर आये अनेक गुट या व्यक्ति नये-नये दलों की स्थापना कर रहे थे। फलस्वरूप कांग्रेस तथा उससे बाहर निकले गुट ही देश के राजनीतिक मंच पर मुख्यतः उपस्थित थे। दीनदयाल जी का सुझाव था कि अपनी स्वतंत्र ध्येय-प्रणाली रखने वाले दल देश की राजनीति को नैतिक मार्ग पर चलायें। इसी प्रकार सरकार की नीतियों में परिवर्तन कराने के लिए आवश्यक आंदोलनों की एक आचार-संहिता हो। दलनिष्ठ सरकार के कारण उसके निर्णय सत्ताधारी दल के लिए ही लाभप्रद होते हैं। विरोधी दलों को जनता की समस्याओं के लिए सदैव धरना देने का कार्यक्रम करना पड़ता है। राजनीतिक दल जनता की शिकायतों को प्रस्तुत करने के लिए आंदोलन चलाते हैं तो सरकार को चाहिए कि उन समस्याओं की ओर तुरंत ध्यान दे। दो चुनावों के बीच उत्पन्न होने वाली समस्याओं के निराकरण के लिए सत्याग्रह, घेराव एवं भूख-हड़ताल आदि कार्यक्रमों का सहारा लेने की नौबत आये, यह वास्तव में देश का दुर्भाग्य है। सरकार इस बारे में लापरवाही से काम लेती है, जिससे ऐसी जनधारणा बनती है कि सत्याग्रह करने पर ही सरकार झुकती है। अतः दीनदयाल जी का सुझाव था कि इसके लिए सबको स्वीकार होने वाला कुछ मार्ग खोजना होगा। छोटे-मोटे प्रश्नों पर सरकार बदलने की धमकी देना गलत है। बड़ी समस्याएं चुनाव-प्रचार के समय जनता के सम्मुख रखी जायें और छोटे प्रश्नों के समाधान के लिए एक सर्वदलीय व्यवस्था हो।

राजनीतिक दलों का वर्गीकरण 'वामपंथी' तथा 'दक्षिणपंथी' कहकर किया जाता है, क्योंकि हम पाश्चात्य पद्धति से इन दलों का विचार करते हैं। यह वर्गीकरण भारतीय राजनीति का सही रूप स्पष्ट नहीं करता। हम यह मानकर चलते हैं कि वामपंथी तथा दक्षिणपंथी के दो छोरों के बीच सभी विचारधाराओं का

समावेश हो जाता है। इस परिभाषा के अनुसार क्योंकि कांग्रेस ने समाजवाद को स्वीकार किया है, वह वामपंथी दल हो जाता है। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। कांग्रेस को पूँजीपतियों का सहारा मिलता है। इसके विपरीत जनसंघ को दक्षिणपंथी माना जाता है क्योंकि उसने रूढ़िवादी समाजवाद को स्वीकार नहीं किया है। किन्तु उसके कार्यक्रम तथा कार्यकर्ता तथाकथित कट्टरवादी दलों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनवादी हैं। हम इस पाश्चात्य परिभाषा को छोड़ दें तो एक और प्रकार से वर्गीकरण कर सकते हैं कि दल का आदर्शवाद उसने कहाँ से आयात किया है। ऐसा वर्गीकरण करें तो कांग्रेस, कम्युनिस्ट, समाजवादी जैसे सभी दल एक ही वर्ग में आ जायेंगे। ये सब दल विदेशी विचार-प्रणाली को भारत की मिट्टी में विकसित करना चाहते हैं। हमारे देश के मूल्यों तथा परिस्थिति का विचार कर भारत में राजनीतिक चिंतन होता ही नहीं। भारत की पृष्ठभूमि पर बनाया पश्चिमी राजनीति का चित्र ही इन राजनीतिक दलों का स्वरूप है। एक और वर्गीकरण करना भी संभव है। वह है परिवर्तनवादी और परिवर्तनविरोधी। उदाहरण के लिए रामराज्य परिषद् सनातनी एवं अपरिवर्तनीय विचारधारा का दल है। सभी सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से उसका विरोध है। इसके विपरीत, जनसंघ स्वामी दयानंद तथा लोकमान्य तिलक की भांति अपनी शाश्वत विचारधारा को सुरक्षित रखते हुए सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में भी परिवर्तन करने का इच्छुक है।

आज की राजनीतिक दल-प्रणाली तथा उनके वर्गीकरण के बारे में दीनदयाल जी ने उपर्युक्त मूलगामी विचार रखा था।

जनसंपर्क एवं विचार-प्रसार

दीनदयाल जी ने सदैव यह भूमिका रखी थी कि जनसंघ एक दल न होकर राष्ट्रीय आंदोलन है। वे चाहते थे कि राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए भारतीय संस्कृति पर आधारित विचारधारा वाले दल के रूप में जनसंघ की पहचान बने। जनसंघ केवल राजनीतिक सुविधा और सत्ता के लिए स्थापित दल नहीं है। अतः वे चाहते थे कि केवल राजनीतिक दल के नाते नहीं, वरन् मूलगामी परिवर्तन करने वाले राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में जनसंघ की छवि जन-मानस में खड़ी हो। इसी दृष्टि से वे इस बात पर बल दिया करते थे कि चुनाव में अधिक से अधिक स्थानों पर प्रत्याशी खड़े करना और अधिक से अधिक मत प्राप्त करना जनसंघ की नीति हो। वे सोचते थे कि इस बहाने मतदाताओं के सामने जनसंघ की विचारधारा को प्रस्तुत किया जा सकता है। दूसरा माध्यम स्थानीय प्रश्नों को लेकर आंदोलन चलाने का था। इस दृष्टि से वे कार्यकर्ताओं से जनता की समस्याओं को लेकर छोटे-छोटे आंदोलन करने को कहा करते थे। स्वयं उनका उद्देश्य जनसंपर्क एवं जनप्रबोधन ही था।

दल के अन्दर प्रजातंत्र

दीनदयाल जी की कार्यप्रणाली कार्यकर्ताओं के साथ खुला विचार-विनिमय तथा विस्तार से चर्चा करने की थी। इसके लिए वे बैठकों में कार्यकर्ताओं से बातें कहलवाते थे और स्वयं सुनते थे। इन बैठकों में वे अपने विचार अवश्य रखते थे,

किन्तु विपरीत आलोचना को भी सुनते थे। इसके बीसियों उदाहरण दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए दीनदयाल जी स्वयं शाकाहारी थे, किन्तु उनका कहना था कि मछली को एक पूरक खाद्य के रूप में मान्यता दी जाये और उसके उत्पादन की व्यवस्था सरकार करे। इसी प्रकार दीनदयाल जी ने शराब को कभी स्पर्श भी नहीं किया, किन्तु वे शराबबंदी के विरुद्ध थे। वे कहा करते थे कि शराबबंदी के दुष्परिणाम उससे होने वाले लाभों से अधिक भयानक होते हैं। तथापि ऐसे सब विषयों पर वे कार्यकर्ताओं को अपने विचार हृदय खोलकर रखने के लिए प्रोत्साहित करते थे। इसी प्रकार एकात्म मानववाद पर भी खुले मन से चर्चा उन्होंने करवायी थी।

तत्त्व के आग्रह के दो उदाहरण

दल के संगठक के नाते दीनदयाल जी जहाँ मृदुभाषी तथा सैद्धांतिक चर्चा में खुले मन के थे, वहीं सिद्धांत का आग्रह रखने के बारे में अत्यंत कठोर भी थे। वे कहा करते थे कि राजनीतिक दल में अनुशासन ऊपर से लादा नहीं जा सकता। आदर्शवाद के साथ सुसंगत आचरण भी दल के अनुशासन का ही एक भाग है। जनसंघ में आदर्श के अनुरूप आचरण का बड़ा महत्त्व होता था। दीनदयाल जी अपने समय में सिद्धांत का कैसा आग्रह रखते थे और अनुशासन किस प्रकार बनाये रखते थे, इसके दो मुख्य उदाहरण हैं। १९५३ में राजस्थान में जनसंघ ने बिना क्षतिपूर्ति (मुआवजा) दिये जमींदारी समाप्त करने का प्रस्ताव किया था। राजस्थान में उन दिनों जमींदारों और जागीरदारों का राजनीति पर प्रभुत्व था। अतः उनके अनुकूल रहने वाले ६ विधायकों ने जनसंघ की इस भूमिका से विसंगत आचरण किया तो दीनदयाल जी ने उन्हें दल से निकाल दिया। दूसरा उदाहरण है—जनसंघ के उन दिनों के अध्यक्ष पंडित मौलिचन्द्र शर्मा को उन्होंने दल छोड़ने के लिए विवश किया। पंडित मौलिचन्द्र शर्मा के बारे में यह संदेह था कि वे नेहरूजी से मिलकर कुछ समझौता कर रहे हैं। अन्ततः वे कांग्रेस में चले ही गये। कार्यकर्ताओं ने उनके विरोध में प्रस्ताव कर उन्हें अध्यक्ष पद छोड़ने के लिए विवश किया। सिद्धांत तथा आचरण में विसंगति दीनदयाल जी ने कभी सहन नहीं की।

श्रमिक आंदोलन को नयी दिशा

भारत में श्रमिक (मजदूर) आंदोलन कम्युनिस्ट और कांग्रेस तथा अन्य वामपंथी दलों की मुट्ठी में था। जनसंघ के लिए यह आवश्यक हो गया था कि अपनी विचारधारा को देश में प्रभावी बनाना हो तो किसान, श्रमिक, छात्र, महिला आदि सभी क्षेत्रों में उसका कार्य होना चाहिए। दीनदयाल जी इस दिशा में सजग थे। इसके लिए श्रमिक-संगठन के बारे में १९५५ की जनवरी में उन्होंने श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी के साथ चर्चा की। दोनों के प्रेरणा-स्रोत राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के श्री गुरुजी थे। दोनों में विचारधाराओं की समानता थी। इस चर्चा में कुछ निष्कर्ष निकाले गये। पहला यह था कि राजनीतिक दल की परिधि को लांघकर जाने वाला, श्रमिकों के सच्चे हितों का बोध रखने वाला और भारत की राष्ट्रीय व सांस्कृतिक परम्परा से जुड़ा श्रमिक-संगठन बनाना चाहिए, तभी पूँजीवादी और साम्यवादी प्रणालियों को निर्णायक ढंग से हराया जा सकता है। अतः दीनदयाल जी का विचार था कि

श्रमिक-संगठन को राजनीतिक प्रभाव एवं अवसरवादिता से मुक्त करने की आवश्यकता है। उनका मत था कि इस प्रश्न की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय स्तर पर एक श्रमिक-संगठन तुरंत स्थापित किया जाय। ऐसे संगठन के जो मार्गदर्शक सूत्र उन्होंने श्री ठेंगड़ी के साथ चर्चा करते हुए निश्चित किये, वे थे:—

१. प्रस्तावित श्रमिक-संगठन को वर्ग-अवधारणा से ऊपर उठकर राष्ट्रीय विचार करना चाहिए।
२. श्रमिक आंदोलन को पूँजीवादी एवं तानाशाही अभारतीय तत्त्वों से मुक्त करते हुए व्यक्ति एवं समाज में पारस्परिक एकात्म भावना की प्रतिष्ठापना करनी चाहिए।
३. श्रमिक आंदोलन के कार्यकर्ताओं को भावात्मक नेतृत्व प्रदान करना और साथ ही श्रमिक आंदोलन के मूलभूत अधिकारों की रक्षा करने की सावधानी बरतना। उदाहरण के लिए संगठन बनाने का अधिकार हो, जीने के लिए आवश्यक न्यूनतम वेतन मिले तथा बढ़ती महंगाई के अनुपात में वह बढ़ता जाये, नौकरी में सुरक्षा हो, काम का अधिकार एवं व्यवस्थापन तथा लाभ में श्रमिकों का सहभाग हो और इन सभी उपायों के हार जाने के बाद अंतिम शस्त्र के रूप में हड़ताल करने का अधिकार हो।
४. श्रमिकों के मन में सेवा-भाव, एकता तथा त्याग की भावना का निर्माण किया जाय। उनमें देश तथा उद्योग के बारे में उत्तरदायित्व की भावना का निर्माण हो।
५. किसी भी राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रहकर सभी श्रमिक-संगठनों को अपने साथ लेकर एक राष्ट्रीय महासंघ बनाया जाय। (मनहर मेहता का लेख, २४ जुलाई, १९८३)

महिला शाखा का कार्य

महिलाओं के लिए भी अलग से कार्य करने के विचार से जनसंघ ने अपना महिला मोर्चा प्रारम्भ किया। दीनदयाल जी का विचार था कि राजनीति में पुरुषों की भांति महिलाओं को भी महत्त्व दिया जाना चाहिए। देश की रचना में उनका भी सहयोग मिलना चाहिए। परिवार के लिए परिवार-प्रमुख के कन्धे से कन्धा लगाकर कष्ट उठाने की भारतीय महिलाओं की परम्परा रही है। राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने वालों ने महिलाओं, उनकी समस्याओं तथा उनकी शक्ति का विचार नहीं किया तो वह समाज के आधे भाग की उपेक्षा करने जैसा होगा। नवभारत की रचना में ऐसी उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। अतः उन्होंने जनसंघ का महिला मोर्चा स्थापित करने की ओर ध्यान दिया। जनसंघ के केवल रचनात्मक कार्यक्रमों में ही नहीं, अपितु आंदोलनात्मक कार्यक्रमों में भी महिला-मोर्चे का सहभाग बहुत बड़ा रहा है।

प्रसिद्धि एवं प्रसार

जनसंघ का बल व्यक्तिगत एवं क्षेत्रशः संबंध बढ़ाने पर था। कांग्रेस के तूफानी प्रचार के कारण सबको संदेह था कि जनसंघ की जड़ें जन-मानस में जमेंगी

भी या नहीं। किन्तु निष्ठा, दीर्घ परिश्रम तथा व्यक्तिगत संबंधों के कारण जनसंघ ने समूचे देश में अपना वितान फैलाया। डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में उसे राजनीतिक प्रसिद्धि शीघ्र प्राप्त हुई। डा. मुखर्जी विनोद से कहा करते थे कि "पंडित नेहरू जनसंघ के उत्तम प्रचारक हैं, क्योंकि वे जनसंघ पर लगातार प्रत्यक्ष आरोप लगाते रहते हैं जिसके फलस्वरूप जनसंघ को अपने आप प्रसिद्धि प्राप्त होती है।" जनसंघ का प्रसार करने वाली 'आर्गनाइजर' जैसी कुछ साप्ताहिक पत्रिकाएं और कुछ दैनिक भी थे। जनसंघ के सदस्य लोकसभा में पहुँचे तो श्री अटलबिहारी वाजपेयी जैसे प्रभावी वक्ता के कारण जनसंघ का मत जनता के सामने आने लगा। स्वयं दीनदयाल जी राजनीतिक दैनंदिनी (पोलिटिकल डायरी) आर्गनाइजर में लिखा करते थे। वह, एक प्रकार से, कार्यकर्ताओं एवं जनता के साथ उनका सैद्धांतिक संवाद होता था। उसका भी जनसंघ के विचारों का प्रसार और प्रचलित विषयों पर चर्चा करने के लिए उपयोग हुआ। शोभायात्रा जनसंघ की विशेषता थी। जनसंघ के राष्ट्रीय एवं स्थानीय प्रश्नों को लेकर होने वाले आंदोलनों का प्रसार करने के लिए उनका उपयोग होता था। प्रतिकूल परिस्थिति में भी चुनाव लड़कर १९५२ से १९६७ तक स्वतंत्र विचारधारा वाले राजनीतिक दल के रूप में जनसंघ ने नाम अर्जित किया।

पहले ही चुनाव में जनसंघ को सारे देश में ३.१ प्रतिशत मत मिले थे। अतः चुनाव आयोग ने उसे अखिल भारतीय दल के रूप में मान्यता दी। यह मानी हुई बात है कि बाद के १६ वर्षों में जनसंघ ने चुनाव में जो मत प्राप्त किये, वे सब उसके राजनीतिक प्रभाव के कारण मिले थे। इस सारे प्रसार और प्रचार में दीनदयाल जी का काफी बड़ा योगदान था। दिल्ली के राजनीतिक सूत्रों में जनसंघ के राष्ट्रवादी विचारों का सुप्त प्रभाव था। केवल मतों की संख्या पर वैचारिक प्रभाव निर्भर नहीं रहता। विचारधाराओं की नवीनता, भिन्नता तथा गहराई का ही महत्त्व होता है। राष्ट्रवादी विचारधारा के प्रतिनिधि के रूप में जनसंघ ने राजनीतिक प्रतिष्ठा तो अर्जित की ही थी, भारतीय राजनीति में एक स्थिर ध्रुव (स्टेबल पोल) के नाते भी वह जाना जाने लगा था। जनसंघ के विचार-प्रसार एवं वैचारिक प्रभाव का यह उत्तम फल था। दल-संगठन का जो आदर्श दीनदयाल जी ने स्वयं रखा था, वह केवल जनसंघ के लिए नहीं, भारतीय राजनीति के लिए भी आदर्श था। दीनदयाल जी का मार्गदर्शक सूत्र यही था कि अनुशासित दल ही अनुशासनबद्ध शासन का निर्माण कर सकता है।

६.
जन-आंदोलन

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद स्वतंत्र भारत की सरकार एवं जनता का संबंध अभिभावक और रक्षित जैसा हो गया है। अंतर इतना ही है कि यह अभिभावक चुनाव में चुना जाता है। उसका आचरण कैसा हो, इसके नियम संविधान में निश्चित किये गये हैं। किन्तु सत्तारूढ़ होने के बाद सत्ताधारियों का 'मानस' बदल जाता है। लोभ उन पर हावी हो जाता है तथा अत्याचार की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। ऐसे समय विरोधी दलों का उपयोग कोड़े जैसा होता है।

सरकार के विरोध में विपक्षी दलों द्वारा चलाये जाने वाले आंदोलनों के बारे में दीनदयाल जी की अपनी एक निश्चित भूमिका थी। वास्तव में उनका कहना होता था कि सभाओं, प्रदर्शनों, आवेदनों आदि बातों को ही अधिक प्रभावशाली बनाना चाहिए। शासन को भी चाहिए कि इन मांगों से प्रकट होने वाली जन-भावनाओं की उपेक्षा कर परिस्थिति को अकारण ही अधिकाधिक विकट न बनने दे। दीनदयाल जी का इस संबंध में यह पहला सूत्र था।

उनका दूसरा सूत्र था, स्वाधीन देश में आंदोलनों की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। लोगों को ऐसे आंदोलन करने के लिए विवश होना पड़े तो इससे यही सिद्ध होता है कि सरकार ने भी प्रजातंत्र या लोकमत का आदर करना सीखा नहीं है। आंदोलन जनसंघ की आस्था (Creed) नहीं है, किन्तु आवश्यकता हो, तो बाध्य होकर जनसंघ इस शस्त्र का प्रयोग भी अवश्य करेगा।

हिंसाचार तथा आंदोलन

"जनता के मत एवं भावनाओं को समझकर उसके अनुसार व्यवहार करने के स्थान पर आंदोलनों एवं जनता का भी दमन करने का प्रयास शासन करता है। उसे लगता है कि इन आंदोलनों को कुचलने में ही उसकी प्रतिष्ठा है और फिर वह दमन-चक्र चलाता है। परिणामस्वरूप प्रजा में सरकार के बारे में असंतोष फैलता है। इस असंतोष के कारण विरोधी दलों का तात्कालिक लाभ भले ही होता हो, किन्तु देश के राजनीतिक जीवन पर बहुत ही विपरीत व विघातक परिणाम हुआ करता है। जनता के आंदोलन को कुचलने के लिए सरकार जब दमन-चक्र प्रारम्भ करती है तो लोग भी हिंसा पर उतर आते हैं। ऐसा करना सरकार के लिए शोभा

नहीं देता। अतः शासन एवं सभी विपक्षी दलों को चाहिए कि संयुक्त रूप से विचार करें कि जनता की शिकायतों की सुनवाई कैसे करायी जाय और उनका निवारण कैसे हो?" (गुजराती साप्ताहिक पत्रिका–'साधना', ११ जनवरी, १९५९)

भ्रष्टाचार के विरुद्ध आंदोलन

दीनदयाल जी कहा करते थे कि जनसंघ स्थानीय राज्य सरकारों में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं दुःशासन का निर्मूलन करने के लिए आंदोलन अवश्य करे। केरल में १९५९ में वहाँ की कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध आंदोलन हुआ था। जन-आंदोलन के द्वारा वहाँ यह सिद्ध करना आवश्यक हो गया था कि वहाँ की सरकार कितना अन्याय कर रही है। अर्थात् कांग्रेस में व्याप्त भ्रष्टाचार निजी कारणों के लिए होता है, तो कम्युनिस्टों का भ्रष्टाचार संगठित एवं दलीय। वे चाहते हैं कि देश में दलीय तानाशाही लायी जाय। दीनदयाल जी का यह विचार १५ अगस्त, १९५९ को आर्गनाइजर में छपी एक भेंटवार्ता में व्यक्त हुआ है। इसी विषय पर दिल्ली के एक स्वागत-समारोह में बोलते हुए उन्होंने कहा था–"भ्रष्टाचार एवं जनता-विरोधी शासन के विरोध में आंदोलन करना जनता का मूलभूत अधिकार है।" उत्तर प्रदेश में वहाँ की अकाल-पीड़ित जनता की चार मांगों के लिए जनसंघ ने सत्याग्रह किया था। वे मांगें थीं–अकाल-पीड़ित क्षेत्र में लगान वसूली बंद की जाय, हर पाँच हजार की बस्ती के लिए सस्ते अनाज की दुकान हो, अकाल-पीड़ित क्षेत्र के छात्रों की शिक्षा निःशुल्क (फीस माफ) की जाय और सर्वथा असहाय हो गये लोगों को बिना मूल्य अनाज दिया जाय। इस आंदोलन के निमित्त दीनदयाल जी ने यह स्पष्ट करते हुए कि अन्य दलों के और जनसंघ के द्वारा चलाये गये आंदोलनों में क्या अंतर होता है, कहा था–"प्रजा समाजवादी दल ने सरकारी गोदामों पर अधिकार करने का कार्यक्रम हाथ में लिया है। किन्तु ऐसे कार्यक्रमों के कारण राज्य में अराजकता फैलने की पूरी संभावना होती है। अतः जनसंघ ने 'घेरा डालो' कार्यक्रम प्रारम्भ किया है। सरकारी कचहरियों का घेराव करना और सरकारी कर्मचारियों को अपने कार्यालय में जाने से रोकना, इस कार्यक्रम का अंग है। इस आंदोलन में हमारा उद्देश्य यह है कि अन्न-समस्या तुरंत हल करने की आवश्यकता सरकार के ध्यान में लायी जाय। हमारा उद्देश्य समानान्तर सरकार स्थापित करना नहीं है।" (गुजराती साप्ताहिक–'साधना', २८ सितम्बर, १९५८)

राष्ट्रव्यापी आंदोलन

जनसंघ ने दो प्रकार के आंदोलन किये–राष्ट्रीय प्रश्नों तथा स्थानीय प्रश्नों को लेकर। दीनदयाल जी का विचार था कि राष्ट्रीय प्रश्नों पर चलाये जाने वाले आंदोलन एकता की भावनाओं का निर्माण करते हैं। सामान्य जन में राष्ट्रीय प्रश्न के प्रति आस्था निर्मित होती है। दुर्भाग्य से सरकार की नीति के कारण ऐसे आंदोलनों को संघर्ष का रूप मिल जाता है। शासन ऐसे आंदोलनों को सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र मानता है। दीनदयाल जी ऐसे आंदोलनों को सृजनशील क्रांति के माध्यम के रूप में देखा करते थे। किन्तु उनका यह भी स्पष्ट मत था कि ऐसे आंदोलन हिंसात्मक तथा दुस्साहसिक न हों।

काश्मीर-आंदोलन

प्रारम्भ के समय में—अर्थात् पहले पाँच वर्षों में—जनसंघ ने दो राष्ट्रीय आंदोलन किये थे। एक काश्मीर में शेख अब्दुल्ला के भारत-विरोधी शासन के विरोध में तथा दूसरा गोवा-मुक्ति के लिए। शेख अब्दुल्ला के विरोध में खड़ा होना एक बहुत बड़ा राजनीतिक साहस था, क्योंकि शेख को नेहरूजी का समर्थन प्राप्त था। शेख अब्दुल्ला उसके कारण उन्मत्त हो गये थे। जनसंघ और जम्मू की प्रजा-परिषद् ने यह साहस किया। डा. मुखर्जी के नेतृत्व के कारण इस आंदोलन को एक ऊँचाई प्राप्त हुई और नेहरू के विरुद्ध खड़े होने का धैर्य भी मिला। अक्तूबर १९५१ में डा. मुखर्जी ने काश्मीर के प्रश्न को लेकर नेहरूजी के विरोध में प्रखर आलोचना करना प्रारम्भ किया। दिल्ली में एक सभा को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था—"नेहरूजी कहते हैं, 'मैं काश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान के साथ युद्ध भी करूंगा।' किन्तु युद्ध तो उन्होंने जनसंघ के विरुद्ध प्रारम्भ किया है। कहते थे कि काश्मीर की एक फुट भूमि गयी तो वह युद्ध का कारण बन सकती है। किन्तु अब तो काश्मीर का एक-तिहाई भाग पाकिस्तान के कब्जे में चला गया है। नेहरूजी इसके लिए क्या कर रहे हैं? सच बात तो यह है कि नेहरूजी को कुछ भी करना-धरना नहीं है। पाकिस्तान सैनिक अड्डे बना रहा है। उसके उत्तर में नेहरूजी ने क्या किया?" (आर्गनाइजर, ८ अक्तूबर, १९५१) जनसंघ ने इससे पूर्व देशभर में काश्मीर-दिवस मनाकर जनता के सामने इस प्रश्न को प्रस्तुत किया था। काश्मीर के प्रति जनसंघ ने ही देश में जन-जागरण किया। जम्मू-काश्मीर में हजारों लोगों ने सत्याग्रह किया। जनसंघ के अनेक कार्यकर्ताओं को शेख अब्दुल्ला ने जेल में डाला और १४ लोगों को गोली मारकर उनकी हत्या कर दी। (प्राध्यापक मधोक का लेख—आर्गनाइजर, २२ अक्तूबर, १९५८) डा. मुखर्जी भी इस लड़ाई में वीरगति को प्राप्त हुए। लोगों को लगा कि अब तो जनसंघ की प्राणशक्ति ही समाप्त हो गयी। आगे चलकर अब्दुल्ला को गिरफ्तार किया गया और तब यह बात सिद्ध हो गयी कि जनसंघ का आंदोलन न्यायोचित था।

गोवा-मुक्ति आंदोलन

'एक देश एक संस्कृति' वाला दीनदयाल जी का आग्रह गोवा-मुक्ति आंदोलन के समय भी दिखाई दिया। १९४७ में अंग्रेजी शासन से भारत तो मुक्त हो गया, किन्तु गोमंतक से पुर्तगाली नहीं गये। विगत चार सदियों में गोमंतक में ईसाई धर्म का प्रभाव फैला था। फिर भी गोमंतक मूलतः हिन्दू संस्कृति का ही उपासक है। गोवा की संस्कृति चर्च या कैथोलिक संस्कृति न होकर शान्ता दुर्गा तथा मंगेश की हिन्दू संस्कृति है। स्वाभाविक था कि 'एक देश एक संस्कृति' के नाते जनसंघ के कार्यकर्ताओं ने भी गोवा-मुक्ति आंदोलन में उत्साह से बड़ी संख्या में भाग लिया। सत्याग्रहियों के एक दल को विदा करते समय पंडित दीनदयाल जी ने कहा था—"गोवा-मुक्ति आंदोलन का कार्यक्रम अखंड भारत की दिशा में हमारे प्रस्थान का ही एक कार्यक्रम है।" उनके ये उद्गार बहुत ही मुखर थे।

सहकारी खेती का विरोध

जनसंघ की केन्द्रीय कार्यकारिणी ने सहकारी खेती तथा पंचायती भूमि के स्वामित्व के बारे में कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्ताव का विरोध करने के लिए एक देशव्यापी प्रचार-अभियान प्रारम्भ करने का निश्चय किया। कांग्रेस का यह प्रस्ताव उसके नागपुर अधिवेशन में पारित हुआ था। दीनदयाल जी का विचार था कि इस प्रस्ताव या सहकारी खेती की कल्पना प्रजातंत्र के विरुद्ध थी। उन्होंने भय व्यक्त किया था कि सहकारी खेती के कारण ग्रामीण जीवन में प्रजातंत्र की सारी व्यवस्थाएं नष्ट हो जायेंगी। वे कहा करते थे कि खेती एक पारिवारिक व्यवसाय है। सहकारिता के सिद्धांत से हमारा विरोध नहीं है, किन्तु पारिवारिक खेती में हर छोटा-बड़ा घटक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार काम करता ही है। परिवार का कर्ता-धर्ता मतों द्वारा चुना नहीं जाता, न ही उसके लिए कोई प्रशिक्षण-वर्ग होता है। वह तो अपने बड़े बुजुर्गों द्वारा चलायी गयी प्रणाली से ज्ञान प्राप्त करता रहता है। किन्तु सहकारी खेती की जाये तो नाना प्रकार के लोग एकत्रित हो आयेंगे। मान लीजिए कि ऐसे लोग खेती करते भी हैं, फिर भी खेती की उपज बाँट लेने का प्रश्न शेष रहेगा ही। वह वितरण समानता से तथा न्यायोचित मात्रा में कैसे किया जाय? यह भी प्रश्न रहेगा। सहकारी खेती में नेतृत्व का भी प्रश्न आता है। सभी किसानों को, जिनमें जमींदार तथा खेतिहर मजदूर दोनों होंगे, कौन एकत्रित करेगा? इस प्रश्न की चर्चा जब देश में हो रही थी तब केरल में कम्युनिस्टों ने वहाँ की सहकारी खेती संस्थाओं पर अपनी रुचि के नेताओं को लाद दिया। आज कम्युनिस्ट केरल में जो कुछ कर रहे हैं, कल कांग्रेस वाले अन्य प्रांतों में भी करेंगे, यही वास्तविक भय है। नेहरूजी को सहकारी खेती की योजना को कार्यान्वित करने की इतनी शीघ्रता है कि वे इस पर विस्तार से विचार भी करने को तैयार नहीं। दीनदयाल जी प्रश्न किया करते थे कि किसानों के अधिकार, नेतृत्व का प्रश्न आदि बातों को अधर में लटकाकर यह प्रयोग करेंगे भी तो कैसे? यही प्रश्न सिंचाई के बारे में भी आयेगा। भूमिसुधार तथा सिंचाई के लिए दीनदयाल ने निम्नानुसार व्यावहारिक सुझाव दिये थे–

१. आने वाले समय में भूमि से होने वाली आय की अधिकतम सीमा निर्धारित करनी चाहिए।
२. भूमि की सिंचाई किसान स्वयं करेंगे, उन्हें केवल ऋण को सुविधानुसार वापस करने की छूट होनी चाहिए।
३. जिनके पास अधिक भूमि है उन पर यह बंधन डाला जाय कि तीन वर्ष के अन्दर वे उसे बेच दें। भूमि खरीदने वाले किसान को सहकारी अथवा अन्य बैंकों से ऋण मिले। भूमि का मूल्य दो किश्तों में देने की सुविधा होनी चाहिए।
४. पूरे गाँव का सम्पूर्ण नियोजन करना चाहिए तथा भूमि की चकबंदी की जाय।
५. ऋण, बिक्री आदि का व्यवहार करने के लिए समिति हो।

किसानों से संबंधित इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर जनसंघ के कार्यकर्ताओं ने उत्तर प्रदेश के गाँव-गाँव में जाकर अपनी भूमिका लोगों के सामने रखी। जनसंघ द्वारा आर्थिक स्थिति पर किया गया यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण आंदोलन था। इस आंदोलन के कारण खेती से जुड़ी अनेक जातियों के साथ जनसंघ का संबंध स्थापित हुआ। उसका अच्छा परिणाम आगामी चुनाव में दिखाई दिया। जनसंघ के समर्थन में किसान-वर्ग बहुत बड़ी संख्या में खड़ा हुआ। यह केवल जन-सम्पर्क का कार्यक्रम नहीं था। जनसंघ की दृष्टि में परिवर्तन लाने वाला तथा उसे आर्थिक आयाम प्रदान करने वाला वह एक क्रांतिकारी कार्यक्रम सिद्ध हुआ। दीनदयाल जी के आग्रह के कारण ही यह परिवर्तन हो सका।

महँगाई के विरुद्ध आंदोलन

जनसंघ ने अगस्त १९५८ में महँगाई के विरोध में देशव्यापी आंदोलन किया। उस समय जनसंघ के श्री अटलबिहारी वाजपेयी तथा श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी आदि सांसदों ने एक निवेदन देकर सरकार को चेतावनी दी कि मूल्य नीचे न आये तो सरकार नीचे आ जायेगी। इसी प्रकार का आंदोलन बम्बई, नागपुर, लखनऊ, भोपाल, इन्दौर, कानपुर, अम्बाला, कलकत्ता, भागलपुर आदि सभी नगरों में हुआ। इस आंदोलन में स्थानीय जनसंघ-नेताओं तथा विधायकों के प्रतिनिधि-मंडल सरकारी अधिकारियों से भेंट करने गये और उन्होंने इस समस्या की गम्भीरता को उनके सम्मुख रखा। इन सभी आंदोलनों का मुख्य सूत्र था, "बीता हुआ समय कांग्रेस का था, आने वाला जनसंघ का होगा।" आर्थिक प्रश्न पर जनसंघ द्वारा किया गया यह दूसरा राष्ट्रव्यापी आंदोलन था।

भूमि का स्वामित्व

खेती की भूमि का स्वामित्व और उसे जोतने वालों के अधिकार भारतीय खेती के पुराने अनिर्णीत प्रश्न हैं। राजनीतिक दल के नेता एवं अर्थशास्त्र के अध्ययनकर्ता के रूप में दीनदयाल जी की इन समस्याओं के बारे में एक वैचारिक भूमिका थी। उन्होंने अक्तूबर, १९५८ के आर्गनाइजर में जनसंघ के महामंत्री के नाते लेख लिखकर उसे स्पष्ट किया था। कांग्रेस ने यद्यपि भूमिसुधार के विधान पारित किये थे, तो भी आंतरिक विरोध के कारण भूमि के स्वामित्व का प्रश्न सुलझाने में विशेष प्रगति नहीं हो पायी थी। कांग्रेस ने यह प्रचार कर रखा था कि जनसंघ जमींदारों का वर्चस्व रखने वाला दल है; अतः जनसंघ की इस प्रश्न पर क्या नीति है, यह स्पष्ट कर बताना आवश्यक हो गया था। संवाददाता-सम्मेलन आमंत्रित कर अथवा भाषणों में दीनदयाल जी इस प्रश्न की चर्चा किया करते थे। उसमें दो बिन्दु मुख्यतः हुआ करते थे—(१) भूमि का स्वामित्व जोतने वाले का हो तथा (२) भूमि से होने वाली आय की अधिकतम सीमा प्रति वर्ष १० हजार रुपये निश्चित कर तदनुसार भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की जानी चाहिए। यह सुधार करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कृषि-अर्थव्यवस्था डावाँडोल न हो जाय। भूमिसुधार का शोर ही अधिक होता है। जनसंघ का मत था कि सिंचाई वाली भूमि की अधिकतम सीमा ५ एकड़ हो। जनसंघ सहकारी खेती के

विरुद्ध था, जिसकी चर्चा हम इससे पूर्व कर चुके हैं।

अमरीकी गेहूँ नहीं चाहिए

अनाज के क्षेत्र में स्वावलंबन तथा राजनीतिक स्वतंत्रता की दृष्टि से पी.एल. ४८०. के नाम से परिचित समझौते का जनसंघ ने विरोध किया था। इसके बारे में भी आग्रह दीनदयाल जी का ही था। उनकी धारणा थी कि अमरीका इस अनुबन्ध का उपयोग भारत पर काश्मीर के बारे में पाकिस्तान के पक्ष में दबाव डालने के लिए कर रहा है। अर्थात् अमरीका भारत को जो गेहूँ देता है, वह अपने आर्थिक हितों के कारण। अमरीका में अर्थनीति की ही प्रधानता है। इस करार से उसका राजनीतिक उद्देश्य एवं आर्थिक लाभ दोनों सिद्ध होते हैं। किन्तु भारत द्वारा अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता एवं अनाज के क्षेत्र में स्वावलंबन, दोनों ही दृष्टियों से अमरीकी गेहूँ के आयात का बहिष्कार किये जाने का समय आ गया है।

जनसंघ का विराट् रूप

जनसंघ ने अपनी स्थापना से लेकर जन-सम्पर्क, जन-प्रबोधन, जन-संघर्ष के लिए राष्ट्रीय एवं स्थानीय समस्याओं को लेकर जो जन-आंदोलन किये, उनमें राजनीतिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यंत प्रभावकारी तथा जनसंघ की सभी विशेषताओं को जनता एवं भारत सरकार के सम्मुख उजागर करने वाला कच्छ सन्धि विरोधी प्रदर्शन सबसे महत्त्वपूर्ण था, जो दिल्ली में १६ अगस्त, १९६५ के दिन संसद् के सामने किया गया। श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने उस प्रदर्शन का यथार्थ वर्णन करते हुए कहा था—"भारतीय जनता का यह विराट् रूप है।" इस मोर्चे के लिए भारत के सभी कोनों से पाँच लाख से अधिक (यह संख्या बी.बी.सी. द्वारा प्रसारित थी) लोग दिल्ली आये थे। प्रदर्शनकारियों के सम्मुख भाषण करते हुए दीनदयाल जी ने कहा था कि राज्य सरकारों ने इस प्रदर्शन में सम्मिलित होने के लिए आने वाले लोगों के मार्ग में बहुत सी अड़चनें न डाली होतीं, तो इससे भी कहीं अधिक संख्या में प्रदर्शनकारी दिल्ली आते। ६ मील का मार्ग पैरों से नापते हुए दिल्ली में लालकिले से संसद् मार्ग पर स्थित सरदार पटेल चौक तक अत्यंत अनुशासन से यह प्रदर्शन सम्पन्न हुआ, जिसके द्वारा जनसंघ ने शांतिपूर्ण प्रदर्शन का आदर्श लोगों के सम्मुख रखा। जनमानस पर इस आंदोलन और उसके अनुशासन का इतना प्रभाव रहा कि सदैव कांग्रेस का पक्ष लेने वाले दिल्ली के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने अपने १९ अगस्त, १९६५ के अग्रलेख में लिखा—"पूरा 'मार्च' और प्रदर्शन इतना सुव्यवस्थित और अनुशासनपूर्ण रहा कि कहीं भी अनुचित घटना घटित होने के लिए कोई अवसर ही नहीं था। कांग्रेस को जनसंघ से इस विषय में काफी कुछ सीखना चाहिए। अनुशासनहीन प्रदर्शन से केवल गुंडे लाभ उठाते हैं और हानि जनता को उठानी पड़ती है।" दिल्ली के 'टाइम्स आफ इंडिया' ने लिखा था—"पिछले सोमवार को सारी दिल्ली भगवे रंग में रंग गयी थी।" इसके विपरीत प्रसिद्ध व्यंग्य-चित्रकार शंकर ने अपने अंग्रेजी साप्ताहिक में लिखा था—"इस प्रदर्शन की समुचित कल्पना देने वाला वृत्तान्त समाचारपत्रों ने छापा ही नहीं।" संसद् में अनेक सदस्यों ने, जिनमें संयुक्त समाजवादी दल,

रिपब्लिकन पार्टी तथा निर्दलीय भी थे, जनसंघ के इस प्रचण्ड आंदोलन का उल्लेख करते हुए मांग की थी कि "कच्छ समझौता रद्द किया जाये।" कच्छ से लेकर कामरूप तक तथा काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक के लाखों कार्यकर्ता इस प्रदर्शन में आये थे। महिलाएं भी बड़ी संख्या में आयी थीं।

इस प्रदर्शन के बाद हुई विराट् सभा को संबोधित करते हुए दीनदयाल जी ने यह स्पष्ट कहा था, "केवल 'कच्छ समझौता तोड़ो' की मांग करने के लिए ही यह विशाल जनसागर यहाँ नहीं उमड़ा है, अपितु सरकार यदि कल को इस आक्रमण के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ करती है, तो उसे हमारे पूर्ण सहयोग का आश्वासन देने के लिए भी यह प्रचण्ड जन-समूह यहाँ एकत्रित हुआ है।" इस प्रदर्शन के समय एक दूसरा सुखद समाचार मिला कि भारतीय सेना को भारत सरकार ने 'आगे बढ़ो' का आदेश दिया है और वह काश्मीर में टिटवाल क्षेत्र की ३ चौकियों को पाकिस्तान से जीत चुकी है। काश्मीर और कच्छ में पाकिस्तानी सेना की गतिविधियों का जन-मानस पर कितना गहरा तथा प्रक्षोभक परिणाम होता था और भारत सरकार से कठोर एवं जुझारू नीति की जनता कैसे अपेक्षा करती थी, यह बात जनसंघ के इस विशाल प्रदर्शन ने दिखा दी। जनसंघ की राष्ट्रवादी भूमिका को जनता ने भी प्रचण्ड समर्थन दिया था।

कच्छ के लिए आयोजित आंदोलन के अगले कार्यक्रम के नाते अप्रैल, १९६८ में जनसंघ ने वहाँ सत्याग्रह प्रारम्भ किया। उस सत्याग्रह में भी जनता ने भारी मात्रा में सहयोग दिया। हजारों सत्याग्रहियों ने उसमें भाग लिया। सरकार ने कई बार उसका दमन करने का प्रयास किया। गांधी जी की दांडी यात्रा का स्मरण दिलाने वाला वह पाँच हजार लोगों का सत्याग्रह-आंदोलन था। जनसंघ द्वारा किये गये जन-जागरण का ही वह परिणाम था। नयी राजनीतिक चेतना का वह सुलक्षण था।

आंदोलन : एक समीक्षा

दीनदयाल जी ने १९५१ से जनसंघ का संगठन खड़ा करने का जो भगीरथ-प्रयास किया, उसमें मिली सफलता का विवरण उनके द्वारा प्रस्तुत वार्षिक प्रतिवेदन में मिलता है। १९६६ में देश के ३५० जिलों में से २६८ जिलों में जनसंघ की शाखाएं स्थापित हो चुकी थीं। जनसंघ के स्थायी सदस्यों की संख्या एक वर्ष में पिछले वर्ष से दूनी हो गयी। उस समय यह संख्या १३ लाख थी। सदस्य-संख्या की इस वृद्धि के साथ ही जो नगर-चुनाव हुए उनमें भी जनसंघ को बढ़ती सफलता मिली। उदाहरण के लिए, बंगाल में १३ स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं में जनसंघ चुनकर आया। भारत-पाकिस्तान युद्ध में जनसंघ ने सहयोग का हाथ बढ़ाया था। सरकार के युद्ध-प्रयासों में सहायता करने के लिए जनसंघ ने अनेक उपहार-गृह चलाये थे। युद्ध में आहत जवानों के लिए सहायता पहुँचाने के कार्य में सैंकड़ों स्वयंसेवक जुटे हुए थे। जनता में उत्साह-निर्माण हो, और उसका मनोबल ऊँचा बना रहे, इसके लिए जनसंघ ने पूरे देश में लगभग ५० हजार सम्मेलन आयोजित किये थे।

प्रभावकारी राजनीतिक शक्ति

जनसंघ के संगठन तथा समय-समय पर उसके द्वारा किये गये आंदोलनों का परिणाम यह रहा कि जनसंघ भारत की एक प्रभावकारी राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर रहा है, ऐसा अभिमत समाचारपत्र प्रकट करने लगे। उदाहरण के लिए, 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में जनसंघ के जालंधर अधिवेशन के बारे में प्रकाशित लेख में कहा गया था—"इस अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव वस्तुनिष्ठ थे। सभी समस्याओं का आंदोलनात्मक विचार न करते हुए, वे राष्ट्रीय प्रश्न हैं इसका बोध रखकर नेताओं ने विचार किया। उदाहरण के लिए पंजाब की पुनर्रचना के बारे में पारित प्रस्ताव में कटुता नहीं थी, वरन् सरकारी नीति को व्यवहार में लाने के लिए सहायता करने की भावना थी।" कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' ने ५ मई, १९६६ के अंक में लिखा, "जालंधर अधिवेशन ने यह स्पष्टतः दिखा दिया है कि जनसंघ अब जवान हो गया है। निश्चित रूप से दिखाई देता है कि जनसंघ राजनीतिक दृष्टि से परिपक्व दल है। इतने थोड़े अनुभव के आधार पर जनसंघ ने इतनी समझदारी एवं सामंजस्य की भूमिका रखी है, यही बात सबसे महत्त्वपूर्ण है। जनसंघ ने अब तक ३ चुनाव लड़े जिनमें यश बढ़ता ही गया है। इस अधिवेशन में जो विविध चर्चाएं हुईं, तथा जिस पद्धति से नेताओं ने इन चर्चाओं का संचालन किया, उससे तो यही दिखाई देता है कि वह एक परिपक्व दल होता जा रहा है। प्रस्ताव में भड़काने वाली गर्म भाषा का उपयोग नेताओं ने प्रयासपूर्वक टाला है। इसमें उनकी विवेकशीलता ही दिखाई देती है।" लखनऊ के 'पायोनियर' दैनिक ने लिखा, "इस पूरे अधिवेशन में सिखों की भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाली भाषा का किसी ने भी कतई प्रयोग नहीं किया।"

समाचार-पत्रों में आये इन अभिमतों से यही दिखाई देता है कि १५ वर्ष में स्वतंत्र विचारधारा, नया नेतृत्व, नये आदर्श, नये जन-सम्पर्क-तंत्र वाले दल के नाते जनसंघ ने राजनीतिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। दीनदयाल जी की छाप इन सब बातों पर स्पष्टतः दिखाई देती थी। लोकतंत्र में संयम तथा अनुशासन का पालन करते हुए किये जाने वाले जन-आंदोलन भी कितने प्रभावकारी हो सकते हैं, यह कच्छ समझौते पर दिल्ली में अगस्त, १९६५ में हुए लाखों आन्दोलनकारियों के प्रदर्शन तथा बाद में हुए सत्याग्रह ने सिद्ध कर दिया।

७.

चुनाव के अखाड़े में

भारतीय जनसंघ ने राजनीति में कांग्रेस के विकल्प के नाते प्रवेश किया था। दीनदयाल जी अनेक चुनाव-सभाओं में कतिपय आधारभूत सिद्धांत मतदाताओं के सामने रखा करते थे। वे कार्यकर्ताओं से भी कहते थे कि हमारा दल एक आदर्शवादी दल है, अतः आपकी निष्ठा अपने आदर्शों पर होनी चाहिए। उनका कहना था कि चुनाव मतदाताओं तक अपने आदर्शवाद एवं कार्यक्रम लेकर पहुँचने का एक अवसर होता है। वह एक प्रकार का राजनीतिक शिक्षण हुआ करता है। अतः चुनाव में सफलता पाना यद्यपि आवश्यक है, चुनाव में प्राप्त होने वाले स्थानों और मतों का अनुपात भी महत्त्व का होता है। महाराष्ट्र प्रदेश के १२वें अधिवेशन में नासिक में बोलते हुए दीनदयाल जी ने कहा था, "क्योंकि चुनाव में स्थानों और मत दोनों का महत्त्व होता है, अधिक से अधिक स्थानों पर लड़ना उचित ही है। चुनाव में हार जाने के बाद भी प्राप्त मतों का आगामी कार्य की दृष्टि से उपयोग होता है। इसलिए किसी के लिए स्थान छोड़ देने का विचार उचित नहीं। अपने क्षेत्र के सम्पूर्ण भाग में हमें अपने कार्य द्वारा छा जाना चाहिए। ऐसा न करने में खतरा है। किसी भी विधानसभा का कोई भी क्षेत्र ऐसा न रहे जिसमें हम धन-संग्रह न कर सकें। इसी प्रकार हर क्षेत्र में ऐसे व्यक्तियों का चयन अभी से कर रखें जो २१ अक्तूबर से (अर्थात् जनसंघ की स्थापना के दिन से) प्रति दिन १० पैसे तो कम से कम दे ही सकेंगे।"

दिल्ली के चुनाव अभियान का अक्तूबर, १९६१ में उद्घाटन करते हुए दीनदयाल जी ने जनसंघ का सैद्धांतिक पक्ष लोगों के सम्मुख रखा था। इसमें उन्होंने कहा—"आज वास्तविक संघर्ष राष्ट्रवाद एवं कम्युनिज्म की ध्येय-प्रणालियों में है। चीनी आक्रमण के बाद कम्युनिस्टों की कलई खुल गयी है और अब वे वेश बदलकर कांग्रेस में घुस रहे हैं। ये कांग्रेस वाले भी उनका स्वागत कर रहे हैं। आज की कांग्रेस सरदार पटेल या पुरुषोत्तमदास टण्डन के समय की कांग्रेस नहीं है। आज की कांग्रेस मेनन और मालवीय की है। राष्ट्र एवं लोकतंत्र को जीवित रखना है तो कांग्रेस और कम्युनिस्ट दोनों के विरुद्ध खड़ा होना पड़ेगा। इसलिए सभी देशभक्तों का जनसंघ आह्वान करता है। जनता को भी इस संघर्ष के स्वरूप को भलीभांति समझ लेना

होगा। कांग्रेस को सत्ता से नीचे उतारना हो तो व्यापक नींव पर दूसरा संगठन खड़ा करना होगा। केवल तात्कालिक लाभ के लिए चुनाव समझौते करने के कारण ही कांग्रेस का अधःपतन हुआ। कांग्रेस को हराना हो तो ठोस कार्यक्रम एवं सिद्धांत के आधार पर ही ऐसा किया जाना चाहिए। इसलिए जनसंघ ने मतदाताओं के सम्मुख ये दो बातें रखने का निश्चय किया है और सभी अवसरवादी समझौतों एवं संयुक्त मोर्चों का मोह उसने टाला है। अपने वास्तविक रूप को छिपाने के इच्छुक लोगों के लिए संयुक्त मोर्चे उपयोगी कहे जा सकते हैं। हमें यह नीति न तो योग्य प्रतीत होती है, न लाभकारी। जनसंघ केवल सत्ता के लिए नहीं, सिद्धांत के लिए लड़ रहा है। लोगों को इस सिद्धता तथा निश्चित नीति के चारों ओर अनुशासनबद्ध रीति से संगठित करने में ही लोकतंत्र की सफलता है।' (आर्गनाइजर)

कांग्रेसी सत्ता के एकाधिकार को चुनौती

कांग्रेस ने देश में निरकुंश सत्ता का उपभोग किया था और परिणामस्वरूप उसमें सत्ता पर एकाधिकार की भावना उत्पन्न हो गयी थी। इस पद्धति को केरल में कम्युनिस्टों ने और दिल्ली में जनसंघ ने चुनौती दी और उस एकाधिकार-परम्परा को तोड़ दिया। केरल में कम्युनिस्ट सरकार आ गयी और दिल्ली में भी कांग्रेस हार गयी। दिल्ली महानगरपालिका के चुनाव (मार्च १९५८) से कांग्रेस की हार का प्रारंभ हुआ। जनसंघ ने उस वर्ष महानगरपालिका के ८० में से २५ स्थान प्राप्त किये और वह कांग्रेस के बाद दूसरे क्रमांक पर आया। इस चुनाव-प्रचार के अभियान का श्रीगणेश करते समय श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा था—"राज्यकर्ताओं की समझ में चुनाव में पराजय की भाषा ही आती है। देश में कितना असंतोष फैला है यह कांग्रेस को दिखाना हो तो उसको हराना चाहिए।" दिल्ली महानगरपालिका के इस चुनाव के कारण जनसंघ की दिल्ली पर पकड़ हो गयी और परिणामस्वरूप अनेक आरोपों का उत्तर मिल गया। सर्वसामान्य धारणा थी कि मुसलमानों के मत सदा कांग्रेस को ही मिलते हैं। किन्तु इस चुनाव में कुछ चुनाव-क्षेत्रों में जनसंघ के प्रत्याशियों को मुसलमानों के भी मत मिले। यही बात सिखों के मतों के बारे में भी हुई। जनसंघ को सिखों के भी कुछ मत मिले। उसी प्रकार आरक्षित स्थानों में जनसंघ ने सात स्थानों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये जिनमें से तीन सफल हुए। इसका अर्थ यह था कि कांग्रेस की विरासत समाज के जिन गुटों या वर्गों में थी, वहाँ भी जनसंघ का प्रवेश हो गया। जनसंघ के २५ सफल प्रत्याशियों में लगभग सभी कार्यकर्ता थे। इस चुनाव में जनसंघ के कार्यकर्ताओं की संगठन एवं प्रचार की कुशलता कसौटी पर खरी उतरी। इस चुनाव के बाद जनसंघ का अभिनंदन करने के लिए आयोजित सभा को संबोधित करते हुए दीनदयाल जी ने कहा—"भारत में इंग्लैंड या अमरीका जैसी द्विदलीय प्रणाली का कोई उपयोग नहीं है। यहाँ तो हमें अपनी बहुदलीय प्रणाली बनानी होगी और दल-बदल न हो, इस हेतु कुछ नियम बनाने होंगे।" दिल्ली के समाचारपत्रों ने इस दृष्टिकोण पर जो अभिमत व्यक्त किये उनसे तो यही भावना व्यक्त हो रही थी कि जनसंघ के रूप में राजनीतिक क्षितिज पर एक नया तारा उदित हुआ है जो अपनी चमक अवश्य

फैलायेगा। उदाहरण के लिए, 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने अपनी चुनाव-चिट्ठी (२४ मार्च, १९५७) में लिखा—"जनसंघ ने अपनी चुनाव व्यवस्था जिस ढंग से खड़ी की थी उससे यही सिद्ध हुआ कि उत्साह एवं उमंग से भरे लगन वाले कार्यकर्ताओं की उसके पास कोई कमी नहीं है।" एक कांग्रेसकार्यकर्ता ने कहा—"चुनाव के दिन किसी टिड्डीदल की भांति जनसंघ के कार्यकर्ता सब दूर छा गये। वे लगातार घूम रहे थे। इसके विपरीत कांग्रेस की स्थिति थी। कांग्रेस के कार्यकर्ता विभाजित एवं संकुचित निष्ठा रखने वाले तथा डरपोक थे।" इससे स्पष्ट है कि जनसंघ का चुनाव पर कैसा प्रभाव प्रारंभ हो चुका था।

दीनदयाल जी के कार्यकाल में चार महानिर्वाचन हुए। सन् १९५२ का चुनाव प्रारंभिक महानिर्वाचन था। उस समय जनसंघ के लोकसभा-प्रत्याशियों को ३१ प्रतिशत मत प्राप्त हुए और उसे अखिल भारतीय दल के रूप में मान्यता मिली। १९५७, १९६२ तथा १९६७ के तीन चुनावों में क्या स्थिति रही, इसका प्रतिवेदन स्वयं दीनदयाल जी ने वार्षिक अधिवेशन में दिया था। उसे पढ़कर जनसंघ की चुनाव-नीति की सफलता और उसके राजनीतिक परिणाम खोजे जा सकते हैं। १९६७ में चुनाव-नीति एवं उसमें प्राप्त सफलता के बारे में अम्बाला अधिवेशन में प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में दीनदयाल जी ने कहा था—"कांग्रेस तथा प्रजासमाजवादी दल ने सदा की भांति मुसलमानों के तुष्टीकरण की नीति अपनायी थी। जातिवाद का कांग्रेस ने सदा की भांति लाभ उठाया। जनसंघ ने किसी भी अखिल भारतीय दल के साथ चुनाव समझौता नहीं किया था। केवल स्थानीय परिस्थिति के अनुसार कुछ स्थान आपस में बाँट लिये थे। जनसंघ ने अपने चुनाव-प्रचार में देश की सुरक्षा तथा दूसरी पंचवर्षीय योजना को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाया था। मेरा निष्कर्ष है कि राष्ट्रवाद एवं लोकतंत्र पर ही जनसंघ की श्रद्धा होने के कारण एक प्रकार से राजनीति में ध्रुवीकरण का प्रारंभ भारत में हो गया है। इसी प्रक्रिया को हमें पूरे उत्साह के साथ आगे चलाना चाहिए।" (आर्गनाइजर, १४ अप्रैल, १९५८)

१९६२ के चुनाव के बारे में कोटा में केन्द्रीय कार्यकारिणी को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते समय दीनदयाल जी ने कहा था—"जैसा कि हमने पहले ही निश्चय किया था, जनसंघ ने अपने सिद्धांतों एवं कार्यक्रम के आधार पर ही जहाँ संभव था चुनाव लड़ा है। संयुक्त मोर्चे में जनसंघ सम्मिलित नहीं हुआ। उसने चुनाव समझौते भी नहीं किये। केवल कुछ स्थानों का ही लेन-देन किया था। इस समय विधानसभा के लिए ११६२ तथा लोकसभा के लिए १९८ प्रत्याशी जनसंघ ने खड़े किये। उड़ीसा में जनसंघ ने चुनाव में प्रथम बार भाग लिया। इस चुनाव में जनसंघ को विधानसभाओं में ५.५५ तथा लोकसभा में ६.४४ प्रतिशत मत मिले। लोकसभा में १४ स्थान उसे प्राप्त हुए। १९५७ में उसे केवल ४ स्थान मिले थे। एक उल्लेखनीय बात यह थी कि हमारे कार्यकर्ताओं ने अपनी आचार-संहिता के नियमों का कट्टरतापूर्वक पालन किया। हमारी नीति यह थी कि इस चुनाव के निमित्त से जनता को जनसंघ के कार्यक्रम एवं सिद्धांत समझाये जायें। जनसंघ पर

कई आरोप लगाये जाने पर भी हमने उनका उत्तर देना टाला है। कम्युनिस्ट जनसंघ के विरोध में कांग्रेस की सहायता करते हैं, यह बात फिर एक बार सबने अनुभव की।" (२८ मई, १९६२)

१९६७ भारतीय राजनीतिक में क्रांतिकारी वर्ष रहा। उस वर्ष जो चुनाव हुए उनके पूर्व दीनदयाल जी ने एक लेख लिखा था जिसमें कहा गया था—"कांग्रेस के मतों का प्रतिशत २५ तक गिर जाये और राष्ट्रवादी मतों का अनुपात ३५ प्रतिशत हो जाये तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा। कांग्रेस अब लोगों को भाती नहीं और कम्युनिस्टों को वे मत देते नहीं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रवादियों को ही राष्ट्रीय विकल्प प्रस्तुत करना चाहिए।" फरवरी चुनाव के बाद उसके परिणामों का विश्लेषण करते हुए दीनदयाल जी ने लिखा—"जनसंघ ने विधानसभा के २००२ स्थानों पर चुनाव लड़ा और उसे ८९.१ प्रतिशत मत मिले। लोकसभा में ९.३३प्रतिशत मिले जबकि उसने २४९ स्थानों पर प्रत्याशी खड़े किये थे। जनसंघ जिन स्थानों पर हार गया उनमें से १५ स्थान लगभग ५ हजार मतों के अंतर से उसने खोये। इस चुनाव में जनसंघ को कुछ नेत्रदीपक सफलताएं मिलीं। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, हिमाचलप्रदेश, तथा हरियाणा राज्यों में वह सबसे बड़े विपक्षी दल के रूप में उभरा। मध्यप्रदेश में राजनीति का ध्रुवीकरण हो गया। कांग्रेस को ४०.६६ प्रतिशत मत मिले तो विरोधी दलों में जनसंघ को सबसे अधिक २८.२८ प्रतिशत मत मिले। उत्तरप्रदेश में जनसंघ के विधायकों की संख्या ४९ से बढ़कर ९८ तक पहुँच गयी। वहाँ कांग्रेस को ४२५ में से २०० स्थान मिले।

दूसरे क्रमांक का दल

"जनसंघ ने अपनी स्थापना के समय से कांग्रेस का विकल्प बनने की आकांक्षा रखी थी। राजनीतिक प्रेक्षकों की धारणा थी कि चुनाव समझौते, गठबन्धन या विलीनीकरण का मार्ग अपनाये बिना कांग्रेस का विकल्प नहीं दिया जा सकता। किन्तु जनसंघ ने अपने दृढ़ सिद्धांत, तथा निश्चित कार्यक्रम के आधार पर ही वैकल्पिक दल के रूप में खड़े होने का निश्चय कर लिया था। इसलिए दल के संगठन को मूल से शिखर तक ठोस एवं सुदृढ़ बनाकर खड़ा करने के काम में वह जुट गया। ऐसे राजनीतिक दल के लिए जनता का समर्थन तो आवश्यक होता ही है, किन्तु समर्पित एवं अनुशासनबद्ध कार्यकर्ताओं के समूह की भी उसके लिए आवश्यकता होती है। चुनाव-समझौते से तात्कालिक आवश्यकता शायद पूरी हो जाती हो, किन्तु आदर्शवाद की प्रेरणा कार्यकर्ताओं को नहीं मिलती। ऐसी प्रेरणा हो, तभी सेवा, त्याग एवं परिश्रम करने के लिए कार्यकर्ता तत्पर होता है। अतः जनसंघ ने सदैव यह माना कि चुनाव केवल सत्ता के लिए नहीं, अपितु जनता को राजनीतिक शिक्षा देने के लिए भी है। चौथे महानिर्वाचन में कांग्रेस जर्जर हो गयी और जनसंघ दूसरे क्रमांक का दल बन गया।" (आर्गनाइजर)

मतदाताओं का शिक्षण

दीनदयाल जी मानते थे कि चुनाव राजनीतिक शिक्षण देने का अवसर देता है। इस दृष्टि से उन्होंने मतदाताओं को विविध बातों की जानकारी देने के लिए

१९६२ के चुनाव से पूर्व 'आपका मत' (Your Vote) शीर्षक से एक लेखमाला आर्गनाइजर में लिखी थी। उसमें देश की रक्षा-व्यवस्था, विविध दलों की आर्थिक नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन, नियोजन के बारे में व्यावहारिक दृष्टिकोण, खेती और किसान आदि विषयों की उन्होंने विस्तारपूर्वक चर्चा की थी और जनसंघ की उनके बारे में क्या नीति थी, स्पष्ट किया था। उदाहरण के लिए सेना के आधुनिकीकरण तथा राष्ट्र के सैनिकीकरण विषय पर दीनदयाल जी ने लिखा था—"प्रतिरक्षा के प्रश्न के तीन पक्ष हैं: (१) सीमा का संरक्षण, (२) शत्रु द्वारा जीते गये प्रदेश को फिर से मुक्त करना, तथा (३) देश की प्रतिरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ करते हुए सैनिकों की समस्याओं का समाधान करना।" जनसंघ के अतिरिक्त किसी भी दल ने सीमा-संरक्षण तथा शत्रु की घुसपैठ को रोकने के संबंध में कोई भी सुझाव नहीं रखे थे।

जनसंघ ने अपने प्रस्ताव में एक सुझाव रखा था कि सीमा-सुरक्षा के लिए एक स्वतंत्र सुरक्षा-दल की स्थापना केन्द्र को करनी चाहिए। उसकी सहायता से घुसपैठ तथा तस्करी को रोका जा सकेगा। इसके अतिरिक्त अन्य सुझावों में कहा गया था कि गुप्तचर विभाग का आधुनिकीकरण हो ताकि विदेशी गुप्तचरों पर दृष्टि रखी जा सके। पाकिस्तान से आसाम और काश्मीर में होने वाली घुसपैठ को रोकने के लिए अविलंब कुछ उपाय करना आवश्यक है, आदि चेतावनियों का भी उसमें समावेश था।

शत्रु द्वारा व्याप्त प्रदेश

पुर्तगाल, पाकिस्तान तथा कम्युनिस्ट चीन के कब्जे में जो भारतीय प्रदेश हैं उनकी मुक्ति का प्रयत्न हो, इस सुझाव एवं अन्य प्रस्तावों की जानकारी देते हुए दीनदयाल जी ने इस लेख में लिखा था—"काश्मीर के पाक व्याप्त प्रदेश के बारे में स्वतंत्र दल ने चुप्पी साधी है। प्रजा समाजवादी दल ने विदेश नीति के भाग के रूप में उसका उल्लेख किया है। कम्युनिस्ट दल ने शत्रु-व्याप्त काश्मीर को मुक्त करना चाहिए तो कहा है, किन्तु चीन द्वारा दबाये गये भारतीय प्रदेश के बारे में सौम्य भाषा का प्रयोग किया है। कांग्रेस ने केवल आशा व्यक्त की है कि शत्रु-व्याप्त प्रदेश को मुक्त किया जायेगा। भारतीय जनसंघ का मत इस विषय में बिल्कुल स्पष्ट, निर्णायक और असंदिग्ध है। पाकिस्तान तथा चीन दोनों ने जो भारतीय प्रदेश हथिया लिये हैं उनको मुक्त करने की मांग जनसंघ ने की है। भारतीय जनसंघ इस मुक्ति के लिए वचनबद्ध है।"

राष्ट्र का सैनिकीकरण

"प्रतिरक्षा बलों के बारे में कांग्रेस और कम्युनिस्ट दोनों ने मौन रखा है। प्रजा समाजवादी दल एवं जनसंघ ने 'राष्ट्रीय प्रतिरक्षा परिषद्' स्थापित करने की मांग की है। आज प्रतिरक्षा-सिद्धता की नितांत आवश्यकता है। अतः 'राष्ट्र का सैनिकीकरण' एवं 'सेना का आधुनिकीकरण' हमारा ध्येय होना चाहिए। आक्रांताओं को भारतीय प्रदेश से निकाल बाहर करना होगा। हमें जुझारू लोगों की आवश्यकता है, केवल विरोध करने वालों की नहीं। भारत की प्रादेशिक अखण्डता

को बनाये रखने के लिए बीच ही में साहस छोड़ बैठने वाले और दुविधा में पड़े नेतृत्व का कोई उपयोग नहीं। मातृभूमि के लिए अंतिम त्याग करने के लिए सिद्ध, निष्ठावान एवं स्वाभिमानी नेतृत्व की आज आवश्यकता है।" (आर्गनाइजर, २५ दिसम्बर, १९६१)

अल्पसंख्यक अवधारणा गलत

दीनदयाल जी ने चुनावों के समय एक विषय सदैव उपस्थित किया था—मुसलमानों के तुष्टीकरण की राजनीति। इस संबंध में तुलनात्मक चर्चा करने वाला एक लेख उन्होंने आर्गनाइजर में लिखा था (१ जनवरी, १९६१)। इस लेख में यह कहते हुए कि कांग्रेस जाति और समुदायवाद के दृष्टिकोण से ही चुनाव की व्यूह-रचना करती है, आगे लिखा था—"कांग्रेस बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक की परिभाषा में बोलती है। उनके लिए अलग-अलग कसौटियों का विचार करते हुए तदनुसार अपनी नीतियों का निर्धारण करती है। इसके विपरीत जनसंघ की एकराष्ट्रीयता में दृढ़ श्रद्धा है।" दीनदयाल जी ने जनसंघ का दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा है—"भारतीय जनसंघ बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक की अवधारणा को ही अस्वीकार करता है। एक ही संस्कृति रखने वाली राष्ट्रीयता में उसका विश्वास है। धर्म का आधार लेकर खड़ी अन्य संस्कृतियों को जनसंघ मानता नहीं। एक देश, एक संस्कृति तथा एक राष्ट्र के सिद्धांत को जनसंघ ने स्वीकारा है। यह सच है कि कुछ ऐतिहासिक कारणवश हमारे देश के कुछ लोग अलग हो गये। किन्तु जनसंघ का मत है कि अब उस अलगाव की भावना को हवा देने वाली बातें करने के स्थान पर उसको समाप्त करने के उपाय करने चाहिए। राष्ट्रीयता का निर्माण राजनीतिक लेन-देन से नहीं हुआ करता, वह समान निष्ठा से ही निर्मित होती है, क्योंकि जनसंघ के विचार में, राष्ट्र एक चेतनामय अवधारणा है। उपासना एवं पूजा की स्वतंत्रता को जनसंघ मान्य करता है, किन्तु उसके आधार पर विशेष अधिकार मांगने और देने की प्रणाली का वह विरोधी है।"

जनसंघ का आर्थिक मार्ग

हर चुनाव में जनसंघ ने अपना विशिष्ट आर्थिक दृष्टिकोण मतदाताओं के सामने रखा। दीनदयाल जी के आर्थिक चिंतन का ही अधिकांशतः उसमें समावेश था। किंबहुना १९६२ के बाद आर्थिक विषयों की चर्चा अधिक होने लगी। प्रचलित अर्थ में जनसंघ का समावेश दक्षिणपंथी दलों में किया जाता था। दीनदयाल जी को यह दायें-बायें का वर्गीकरण ही अमान्य था। १९६२ के चुनाव से पूर्व प्रकाशित अपने लेख में उन्होंने कहा था—"विविध राजनीतिक दलों के आर्थिक कार्यक्रमों का उद्देश्य सामान्यतः समान ही हुआ करता है। अंतर होता है तो केवल उन्हें साध्य करने के मार्ग के बारे में। सब चाहते हैं कि जनसामान्य का रहन-सहन ऊँचा उठे तथा आय और सम्पत्ति की विषमता कम हो। समाजवादी दल इस उद्देश्य को शासनसंस्था की सहायता से साध्य करना चाहते हैं। गैर समाजवादी दलों की इच्छा होती है कि मनुष्य के सृजनशील एवं रचनात्मक कर्तव्य को प्रोत्साहन देकर, किन्तु अर्थशक्ति के केन्द्रीकरण से बचकर एवं सामाजिक

आवश्यकताओं को पूरा करते हुए इस उद्देश्य को साध्य करना चाहिए।

भारतीय जनसंघ समाजवाद या पूँजीवाद, किसी को भी स्वीकार नहीं करता। लोगों के आर्थिक प्रश्नों का समाधान करने के लिए उसने एक स्वतंत्र दर्शन का निर्माण किया है। निजी एवं सार्वजनिक उद्योगक्षेत्रों में जो पोथीनिष्ठ भेद है, उसे जनसंघ नष्ट करना चाहता है। वह चाहता है कि उत्पादन इतना बढ़े कि अपने लोगों की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। इसी प्रकार राष्ट्र की प्रतिरक्षा-विषयक आवश्यकताओं को भी पूरा करना होगा। उत्पादन में यह वृद्धि करते समय अर्थ-शक्ति के केन्द्रीकरण से बचना होगा और अपनी नीति ऐसी बनानी होगी कि आर्थिक विषमता बढ़े नहीं। विषमता के कारण आवश्यक वस्तुओं का बाजार सीमित हो जाता है और बाजार में मंदी आ गयी तो उत्पादन कम हो जाता है। स्वाभाविकतः बेकारी बढ़ती है। सबको काम देने वाली योजना बने और योग्य अनुपात में वेतन दिया जाय तो बाजार में माल की खपत बढ़ेगी और सामाजिक एवं आर्थिक संतुलन भी कम होगा।"

विशुद्ध भारतीय नियोजन हो

भारत में नियोजन का प्रारंभ होने के बाद लकीर की फकीर प्रतिक्रियाएं व्यक्त होने लगीं। किन्तु दीनदयाल जी द्वारा की गयी आलोचना सदा की भांति विशेष सिद्धांतों का आग्रह रखने वाली थी, जिसे जनसंघ के चुनाव घोषणा-पत्र में सम्मिलित किया गया। नियोजन की आवश्यकता को उन्होंने स्वीकार किया था, किन्तु भारतीय जनसंघ ने सुझाव दिया था कि वे वेग से औद्योगिकीकरण के पीछे न पड़ते हुए तथा पश्चिमी ढंग का औद्योगिकीकरण न करते हुए भारत को अपना तन्त्र-विज्ञान (टेक्नॉलॉजी) खोज निकालना होगा। हमारी सांस्कृतिक परंपरा, सामाजिक मूल्य एवं भौतिक आवश्यकताएं आदि बातों का एकत्रित विचार करना होगा। विदेशी प्रविधि (टेक्नीक) ज्यों की त्यों स्वीकारने से न तो हमारी समस्याएं सुलझेंगी, न ही स्वावलंबी एवं स्वयंपूर्ण अर्थ-व्यवस्था का उससे निर्माण होगा। परिवार को उत्पादन-व्यवस्था का मुख्य आधार मानकर उसका विकेन्द्रीकरण करने का जनसंघ प्रयास करेगा। उत्पादन अधिक से अधिक बढ़ाने के लिय प्रयत्न तो किया ही जायेगा, किन्तु साथ ही उसके न्यायोचित वितरण तथा उत्पादन एवं सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण की भी व्यवस्था की जायेगी। जनसंघ को आपत्ति थी कि भारतीय नियोजन रूसी ढंग का हो रहा है। अतः उसके दो अन्य महत्त्वपूर्ण सुझाव थे कि योजना आयोग की पुनर्रचना हो और राष्ट्रीय विकास परिषद् अधिकाधिक प्रातिनिधिक हो। वह चाहता था कि नियोजन में प्राथमिकता खेती को दी जाये ताकि देश अन्न के बारे में आत्मनिर्भर हो सके और छोटे-छोटे उद्योग-धंधों के लिए कच्चा माल मिलता रहे।

खेती और किसान

जनसंघ की सदैव आलोचना की जाती थी कि वह मालगुजारी प्रथा का समर्थक है। जनसंघ ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र द्वारा इसका उत्तर दिया था। १९६२ के चुनाव से पहले लिखे एक लेख में (आर्गनाइजर, २९ जनवरी, १९६२)

दीनदयाल जी ने इस नीति का विश्लेषण किया था—"जनसंघ ने भूमिसुधार का एक वास्तविक एवं व्यापक कार्यक्रम सामने रखा है। गोबेल्स की शैली में एक प्रचार चल रहा है कि जनसंघ को मध्ययुगीन अर्थव्यवस्था का पुनरुज्जीवन करना है। उसका उत्तर इस कार्यक्रम के द्वारा अपने आप मिल जायेगा। नारेबाजी न करते हुए जनसंघ इस कार्यक्रम को अपने हाथ में लेगा। आज के विधान में जो त्रुटियाँ हैं उन्हें दूर कर जनसंघ किसान को ही भूमि का स्वामी बनाना चाहता है। जोतने वालों से भूमि छीन लेने के वह विरुद्ध है। उन्हें 'बेदखल' करने की सारी घटनाओं को जनसंघ समाप्त करेगा। जिनके पास भूमि की अधिकतम सीमा से कम भूमि है उनकी भूमि को वह हाथ नहीं लगायेगा। जोतने वालों को दी जाने वाली भूमि की अधिकतम सीमा पाँच एकड़ रहेगी। विधवाओं, अपंगों, सेना से मुक्त सैनिकों, धर्मादाय संस्थाओं तथा अनाथ बच्चों की भूमियाँ इस सीमा में नहीं आयेंगी। खेती का यंत्रीकरण इस देश में नहीं चलेगा। सहकारी खेती से जनसंघ का विरोध है। सरकार द्वारा खेती-बाड़ी के लिए दी जाने वाली सहायता एवं सुविधाओं में किसानों के साथ कोई भेदभाव नहीं बरता जायेगा। सिचाई वाली पाँच एकड़ भूमि किसान के परिवार का भरण-पोषण करने के लिए पर्याप्त है। अतः जनसंघ ऐसा नियोजन करेगा जिसमें सभी किसानों को इतनी भूमि मिल सके। जनसंघ की धारणा है कि भूमि का कर (लगान) कम करना चाहिए। इस लगान की राशि पंचायतों को मिलनी चाहिए। ग्रामीण जनता से पर्याप्त मात्रा में कर वसूले नहीं जाते, ऐसी भ्रान्ति और गलत सिद्धांत आजकल प्रसारित किया जा रहा है। भारतीय जनसंघ छोटे-छोटे प्रकल्पों पर बल देकर खेती का विकास करना चाहता है। अतः जनसंघ को दिया गया मत छोटे किसानों को स्वतंत्र एवं समृद्ध करने की अवधारणा को मत देने जैसा है।" (आर्गनाइजर, २९ जनवरी, १९६२)

जनता परिवर्तन चाहती है

सारांशः देश में एक ऐसा वातावरण बन रहा था जिसमें प्रतीत हो कि कांग्रेसी सत्ता की बपौती को नष्ट करने के लिए जनता उत्सुक है। १९६२ में दीनदयाल जी ने इस भावना को व्यक्त करना प्रारम्भ किया था। वे कहते थे कि कांग्रेस को मिलने वाले मत जात-पाँत, समुदायवाद, व्यक्ति-सम्मोहन और स्थापित सत्ता की राजनीतिक परम्परा के कारण मिलते हैं। लोग उसे मत इसलिए नहीं देते कि कांग्रेस उन्हें प्रिय है, अपितु इसलिए कि अन्य दल चुनाव तकनीक तथा तन्त्र-संगठन में उसके सामने कम पड़ जाते हैं। किन्तु लोगों में बोध बढ़ेगा और एक समय ऐसा आयेगा कि कांग्रेस सत्ता से नीचे उतार दी जायेगी, यह भविष्यवाणी दीनदयाल जी ने १९६२ के चुनाव घोषणा-पत्र में की थी।

संयुक्त मोर्चे में जनसंघ क्यों नहीं?

जनसंघ की चुनाव-नीति का महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक सूत्र था कि विरोधी दलों के कांग्रेस-विरोधी मोर्चे में सम्मिलित न होते हुए लोकसभा एवं विधानसभाओं की सीटों का तालमेल बिठाने का प्रयास करना। कांग्रेस सत्ता से जानी चाहिए तथा उसे वहाँ से हटाना चाहिए, यह तो दीनदयाल जी का भी मत था, किन्तु कांग्रेस-विरोध

राष्ट्रीय पुनर्रचना का आधारभूत सिद्धांत नहीं हो सकता। कांग्रेस की निरंकुश सत्ता को नष्ट करने तक के सोपान की वह एक पैड़ी है। उसके बाद पुनर्रचना के सिद्धांत और मार्ग उससे अलग हो जाते हैं। सिंहासन कभी खाली नहीं रहता। अतः संयुक्त मोर्चे न करते हुए भी संमिश्र सरकार का निर्माण करना पड़ता है। मतदाताओं को कांग्रेस नहीं चाहिए। किन्तु देश में सरकार तो होनी ही होती है। अतः मतदाताओं के नकारात्मक मत का रचनात्मक पक्ष बहुदलीय सरकारें ही होता है। कांग्रेस को हराने के लिए चुनाव में स्थानों का तालमेल बिठाना पड़ता है। लोगों की बहुदलीय सरकार से अपेक्षाएं भी कम होती हैं। अच्छे शासन के न्यूनतम सिद्धांत एकदलीय अथवा एकतंत्रीय सरकार की भांति ही बहुदलीय सरकार को भी व्यवहार में लाने पड़ते हैं। इसी प्रकार कांग्रेस से सर्वथा भिन्न तत्त्वदृष्टि रखते हुए विकास के कार्यक्रम निर्धारित कर उन पर विविध दलों का मतैक्य हो सकता है। उसके प्रति प्रतिबद्धता भी निर्मित की जा सकती है। जनसंघ की यह भूमिका १९६७ के चुनाव में दीनदयाल जी ने फिर से सामने रखी थी।

चुनाव-परिणामों का अन्वयार्थ

"जनसंघ सुस्पष्ट दर्शन, सुदृढ़ नीति तथा निश्चित कार्यक्रम वाले त्यागी, समर्पित एवं अनुशासनबद्ध कार्यकर्ताओं के दल के रूप में जीना चाहता है। विशेषतः सत्ता की नहीं, वरन् आदर्शवाद के ध्रुव तारे की ओर अपना ध्यान निरंतर रखकर चलने वाले वैकल्पिक दल के नाते वह कार्य करना चाहता है। जनता की यही अपेक्षा पूरी करने के लिए जनसंघ का जन्म हुआ है।" चुनाव लोकमत का दर्पण हुआ करता है। दीनदयाल जी के समय में १९५२, १९५७, १९६२, १९६७ में जो महानिर्वाचन हुए उनमें जनसंघ की यही प्रतिमा निखर कर आयी थी। दीनदयाल जी ही वैचारिक तथा संगठनात्मक दृष्टि से इस सारे कालखण्ड में जनसंघ के मार्गदर्शक एवं योजक थे। फिर प्रश्न आता है कि ऊपर जनसंघ के जो लक्ष्य दिये हैं, इस काल में उनमें से कितने प्राप्त किये जा सके हैं? इन चार चुनावों में जनसंघ एक आदर्शवादी, लोकहितदक्ष तथा लोगों के लिए संघर्ष करने वाले दल के रूप में कहाँ तक सफल हुआ? वैचारिक दृष्टि से जनसंघ के कौन से सिद्धांत एवं अवधारणाएं भारतीय राजनीति में १९५१ से १९६७ तक के दीनदयाल जी के कार्यकाल में दृढ़मूल हुईं, इसका विचार आगामी अध्याय में किया जायेगा। इस अध्याय में राजनीतिक दल के प्रभाव की दृष्टि से चुनाव में जनसंघ को कितने परिमाण में सफलता मिली, यह हमें साररूप से देखना है। उपेक्षा, निन्दा, कुप्रचार, विरोध, संघर्ष आदि सभी अवस्थाओं को सफलतापूर्वक पार करने के बाद सामाजिक या राजनीतिक संगठन सफल हुआ करता है। जनसंघ को भी इन पाँचों अवस्थाओं में से होकर आगे बढ़ना पड़ा था।

१९५२ के चुनाव में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी का नेतृत्व, कर्तृत्व एवं राजनीतिक प्रतिष्ठा तथा निष्ठावान कार्यकर्ताओं का संकल्प और प्रयत्न जनसंघ की पूँजी थी। इस चुनाव में मिली सफलता का मूल्य-मापन संक्षेप में करना हो, तो कहा जा सकता है कि इसमें ३१ प्रतिशत मत अखिल भारत में प्राप्त कर जनसंघ ने

निर्वाचन आयोग से अखिल भारतीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त की। लोकसभा में ३ और विधानसभाओं में ३४ स्थान उसने जीते। राज्यसभा में उसे एक स्थान मिला। विधानसभाओं में जनसंघ को २८,६६,५६६ मत मिले तथा लोकसभा निर्वाचन-क्षेत्रों में ३२,४६,२८८। सारे देश में जनसंघ के संगठन का जाल फैलायेंगे तो मत अवश्य प्राप्त होंगे, ऐसा विश्वास इस निर्वाचन से कार्यकर्ताओं में निर्मित हो गया। (आर्गनाइजर, गणतंत्र विशेषांक, १९६२ में श्री जगदीशप्रसाद माथुर, केन्द्रीय कार्यालय-प्रमुख के समीक्षात्मक लेख से)

१९५७ के चुनाव में जनसंघ को लोकसभा निर्वाचन-क्षेत्रों में ५.९३ प्रतिशत मत मिले और ४ स्थान। विधानसभाओं में १९५२ में मिले स्थान बढ़कर इस चुनाव में ४६ हो गये और मतों का अनुपात २.७६ से बढ़कर ४.०३ प्रतिशत हो गया।

१९६२ के चुनाव में लोकसभा में १४ स्थान मिले तथा मतों का अनुपात ६.४४ हो गया। विधानसभाओं में १९५७ में ५१ स्थान मिले थे, १९६२ में उनकी संख्या ११६ हो गयी।

१९६७ में विधानसभाओं में जनसंघ को २६८ स्थान तथा ८.९४ प्रतिशत मत प्राप्त हुए। लोकसभा निर्वाचन-क्षेत्रों में ३५ स्थान तथा ९.३३ प्रतिशत मत मिले। जनसंघ दूसरे क्रमांक का दल हो गया। इस बार जनसंघ के पक्ष में पिछले चुनाव की अपेक्षा दूना मतदान हुआ। दीनदयाल जी ने इस चुनाव के बारे में अपने प्रतिवेदन में तीन महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले थे—

१. भारतीय जनसंघ की चुनावी व्यूहरचना सफल हो गयी।

२. कांग्रेस के मत और वामपंथी दलों का राजनीतिक प्रभाव कम हो गया।

३. जनसंघ की प्रगति दूनी हुई है।

१९६७ के चुनाव-परिणामों के बारे में जनसंघ ने एक प्रस्ताव द्वारा संतोष व्यक्त किया था। उस प्रस्ताव में कहा गया था—"चुनाव ने कांग्रेस के सत्ता के एकाधिकार को नष्ट किया है। चुनाव-परिणामों ने दिखा दिया है कि जनमानस में कांग्रेस के प्रति कितना असंतोष है। कांग्रेस के विघटन के कारण देश में वैकल्पिक दल की आवश्यकता तीव्रता से प्रतीत होने लगी है। इस संभावना को जनसंघ ने चुनाव के पहले ही भाँपा था। अतः रचनात्मक विकल्प के आधार पर ही जनसंघ ने अपने बलबूते पर ये चुनाव लड़े। किसी भी मोर्चे में वह सम्मिलित नहीं हुआ। जनसंघ को प्राप्त मत एवं स्थान, दोनों की संख्या में वृद्धि हुई। सभी गैर-कांग्रेसी दलों में जनसंघ को सबसे अधिक मत मिले। जनता द्वारा जनसंघ में व्यक्त इस विश्वास को ध्यान में रखकर वैकल्पिक दल के नाते संगठित होने और कांग्रेस का सुदृढ़ विकल्प तैयार करने का जनसंघ निश्चय करता है।" सारांशतः १९६७ के चुनाव में जनसंघ ने जो प्रगति की थी उससे यही दिखाई देता है कि जन-मानस पर जनसंघ का राजनीतिक प्रभाव निश्चय ही बढ़ता जा रहा था और एक वैकल्पिक दल के नाते अकेले ही चुनाव लड़ने की दीनदयाल जी की नीति सफल होने लगी थी।

जनसंघ और मुसलमान

जनसंघ द्वारा चुनाव में प्राप्त मतों का सर्वेक्षण अमरीकी लेखक बैक्स्टर ने जनसंघ पर लिखी अपनी पुस्तक में और दो दृष्टियों से किया है—एक तो जनसंघ के और मुसलमानों के मत तथा दूसरा ग्रामीण और नगरीय मत। सामान्य धारणा यह थी कि जनसंघ को मुसलमानों के मत नहीं मिलते। इस संबंध में बैक्स्टर का कहना था कि मुस्लिम-बहुल जिलों की संख्या हिन्दीभाषी प्रदेशों में नहीं, बंगाल तथा आसाम में अधिक है। वहाँ रा.स्व.संघ का विशेष प्रचार नहीं है तथा जनसंघ का हिन्दी-समर्थक व्यवहार, ये दो कारण इसके हो सकते हैं। उत्तर प्रदेश में मुस्लिम-बहुल जिलों की संख्या केवल १० है। वहाँ जनसंघ को १९६२ तथा १९६७ के चुनाव में मिले मतों का कोई निश्चित प्रतिदर्श (पैटर्न) नहीं है। (जनसंघ, बैक्स्टर, पृष्ठ २३४-२३५) जनसंघ के बारे में दूसरी धारणा यह थी कि वह नगरीय मत प्राप्त करने वाला है। १९५७ और १९६२ में हुए चुनावों के परिणामों का अध्ययन करने से दिखाई देता है कि १९५७ में जनसंघ को उत्तर प्रदेश के ग्रामीण भागों में विधानसभा के चुनावों में १६.६९ प्रतिशत मत मिले। १९६२ में इसी राज्य में ४३ ग्रामीण स्थानों पर जनसंघ ने चुनाव लड़ा। वहाँ उसे २२.५९ प्रतिशत मत मिले। १९६२ में जनसंघ ने ग्रामीण भागों में अच्छे मत प्राप्त किये। १९६२ में जनसंघ को प्राप्त मतों में नगरों में ३६ प्रतिशत तो ग्रामीण भागों में ७८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। (जनसंघ, बैक्स्टर, पृष्ठ २३६)

चार चुनावों में प्रगति

भारतीय जनसंघ ने जम्मू-कश्मीर को छोड़कर सभी राज्यों में इन चार चुनावों में अधिकाधिक सफलता प्राप्त की। उदाहरण के लिए, १९६२ में उसे हरियाणा में १.४४, पंजाब में ९.३७, हिमाचल प्रदेश में १५.२१, बिहार में १०.३३ तो मध्यप्रदेश में २१.५३ प्रतिशत मत मिले। सारांश यह कि १९६७ के चुनाव में जनसंघ का चौमुखी विकास हुआ। पहले की अपेक्षा मुसलमान, ईसाई आदि सम्प्रदायों के मतदाताओं ने जनसंघ को अधिक मात्रा में मत दिये। वनवासी क्षेत्रों में जनसंघ का प्रवेश हो गया। यह स्थिति भी बदल गयी कि मुस्लिम मत कांग्रेस का वोट बैंक हैं।

"जनसंघ की प्रतिनिधि-सभा के प्रस्ताव में यह निष्कर्ष व्यक्त किया गया कि वैकल्पिक दल के नाते जनसंघ धीरे-धीरे आकार लेता जा रहा है। ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी है। दिल्ली तथा मध्यप्रदेश में वह पूरी हो गयी है। उत्तर प्रदेश में वह अंतिम चरण में है। हरियाणा, हिमाचल, महाराष्ट्र तथा जम्मू-कश्मीर में जनसंघ चुनौती स्वीकारने के लिए सक्षम हो गया है।" (आर्गनाइजर, ३० अप्रैल, १९६७)

सत्ता-संक्रमण की दो सीढ़ियाँ

१९६२ में दीनदयाल जी ने भविष्यवाणी की थी कि कांग्रेस हारेगी, किन्तु प्रत्यक्ष में १९६७ में केन्द्र को छोड़कर ८ राज्यों में कांग्रेस की हार हुई। उस समय यह सिद्ध हो गया कि सत्ता पर कांग्रेस का एकाधिकार समाप्त किया जा सकता है।

सत्ता-सिंहासन कभी रिक्त नहीं रहता। दीनदयाल जी ने कांग्रेस के सत्ता से हटने के बाद सत्ता-संक्रमण की दो अवस्थाओं की कल्पना की थी—एक, बहुदलीय संमिश्र सरकार की और दूसरी विविध विपक्षी दलों की एकदलीय सरकारों की।

१९६७ में सत्ता-संक्रमण की पहली अवस्था देश ने देखी। उस संबंध में विश्लेषण करते हुए दीनदयाल जी ने चुनाव के पहले ही जनसंघ के घोषणापत्र में कहा था—"स्वतंत्र भारत के राजनीतिक इतिहास में नया पर्व आरम्भ करने के लिए जनता उत्सुक है। जनता के लिए चुनाव जहाँ एक बड़ा अवसर है, वहीं एक चुनौती भी। विगत २० वर्षों से कांग्रेस सत्ता में है और अब उसने जनता का विश्वास खो दिया है। जनता के स्वाभिमान का ध्यान रखकर कांग्रेस सरकार ने कुछ भी नहीं किया है। सच कहा जाये तो जनता के सच्चे सामर्थ्य की अभिव्यक्ति सरकार कर ही नहीं पायी है। जनता के परिश्रम को वह सार्थक भी नहीं कर सकी है। जनता और सेना के जवानों के धैर्य एवं स्वार्थत्याग का प्रतिबिंब सरकारी नीतियों में दिखाई नहीं देता। देश की आधारभूत एकता और एकात्मता की सरकार ने उपेक्षा की है। जनता की भावनाओं का आदर उसने नहीं किया है और जनता के कल्याण का किंचित् भी ध्यान नहीं रखा है। सर्वस्पर्शी स्वावलंबन, समृद्धि और स्वाभिमान से परिपूर्ण जीवन का अनुभव करने के स्थान पर कांग्रेस के शासन में देश आर्थिक दिवालियापन, राजनीतिक दासता और राष्ट्रीय अवहेलना के कगार पर आ पहुँचा है। स्वराज्य में ही होने वाला स्वदेश, स्वधर्म और स्वतंत्रता का यह दमन इससे आगे सहन नहीं किया जा सकता। जनता अब कांग्रेस का शासन चलने नहीं देगी। हमें उसे बदलना ही होगा।"

संमिश्र सरकारों को मान्यता

जनसंघ के मिली-जुली सरकार में सम्मिलित होने की संस्तुति करते हुए दीनदयाल जी ने कहा—"यदि ऐसी सरकारें न बनायी जा सकीं तो सबसे बड़े दल के नाते उन राज्यों में कांग्रेस को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जायेगा। उसकी सरकारें विधानसभाओं का विश्वास प्राप्त करने में असफल रहीं तो राष्ट्रपति-शासन का आना अपरिहार्य हो जायेगा। उसका अर्थ क्या होगा? यही न कि जिस जनमत ने स्पष्ट कांग्रेस को फिर से शासन में न लाने का स्पष्ट आदेश दिया है, उसी जनमत को ठुकराकर सरकार बनायी जायेगी। इतना ही नहीं, उसका अर्थ यह भी होगा कि जनता में उत्पन्न इस विश्वास को कि वह अपने मत के बल पर सरकार बदलने की लोकतंत्रीय क्रांति कर सकती है, ठेस पहुँचाने का दुष्कृत्य हमने किया। यह बात लोकतंत्र के विकास के लिए कदापि उचित नहीं होगी। इससे तो उन लोगों की बन आयेगी जिनका लोकतंत्र में कोई विश्वास नहीं है।" अतः जनमत का सम्मान करने के लिए चुनाव के बाद मिली-जुली सरकार में सम्मिलित होने का निर्णय किया गया। ऐसे मंत्रिमंडल में कहाँ तक बने रहना चाहिए, इसका निर्देश देते समय जनसंघ की केन्द्रीय-कार्यकारिणी ने आदेश दिया—"जनसंघ के सिद्धांत और कार्यक्रम के अनुसार जब तक जनता की प्रभावकारी सेवा की जा सके, तभी तक मंत्रिमंडल में रहना चाहिए और मंत्रिमंडल में इस प्रकार भागीदारी करते

समय भी जनसंघ संसदीय दल को अपना स्वतंत्र संगठन बनाये रखकर दल के संविधान के अनुसार काम करते रहना चाहिए।"

दिल्ली में जनसंघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा की बैठक अप्रैल में हुई। उस बैठक में संमिश्र (मिली-जुली) सरकार के बारे में अपनी भूमिका को स्पष्ट करते हुए दीनदयाल जी ने कहा—"राज्यों के मिले-जुले मंत्रिमंडलों में जनसंघ सम्मिलित होगा, किन्तु आगामी चुनाव में विरोधी दलों के साथ वह चुनाव समझौता नहीं करेगा।

"पिछले चुनाव में जनसंघ अन्य विरोधी दलों के साथ चुनाव समझौता करता तो आज जनसंघ को जितने स्थान मिले हैं उतने निश्चय ही नहीं मिलते। उसी प्रकार कतिपय चुनाव क्षेत्रों में जनसंघ ने प्रत्याशी खड़े करने के बारे में जो तालमेल बिठाया वह उसने न बिठाया होता तो कांग्रेस को कहीं अधिक स्थान मिलते।

"इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विरोधी दलों के साथ संयुक्त सरकार स्थापित करने के लिए जनसंघ ने सहकार न किया होता (वास्तव में पहल न की होती) तो कांग्रेस ही फिर से सत्ता में आती। जनसंघ और कम्युनिस्टों की रीति-नीति के बारे में चुनाव में जनता ने यद्यपि स्वतंत्र रूप से अपने निर्णय दिये हैं, चुनाव के बाद दोनों के एकत्रित होकर (एक ही संमिश्र सरकार में सम्मिलित होकर) काम करने की आवश्यकता आज उत्पन्न हो गयी है।"

अंतिम लक्ष्य—राष्ट्रीय लोकतांत्रिक विकल्प

राष्ट्रवाद एवं लोकतंत्र में श्रद्धा रखने वाले तथा भारत के सांस्कृतिक मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक पुनर्रचना करने की इच्छा रखने वाले तथा जनता को अपना आराध्य मानने वाले वैकल्पिक राजनीतिक दल के रूप में जनसंघ प्रगति कर ही रहा था। अंतिम ध्रुवीकरण होने तक समान विचार वाले अन्य दलों के साथ मिली-जुली सरकार में सहभागी होने का निर्णय उसने किया ही था। किन्तु १९६७ के चुनाव घोषणा-पत्र के साथ ही जनसंघ ने जनता के सम्मुख 'राष्ट्रीय लोकतांत्रिक विकल्प' रखने का प्रस्ताव भी किया था। कांग्रेस को सत्ता से हटाने के लिए निर्णायक उपाय एवं व्यूह-रचना का यह प्रस्ताव एक उत्तम उदाहरण था। उसमें चुनाव का प्रारूप स्पष्ट करते समय कहा गया था—"कांग्रेस के भ्रष्ट शासन को समाप्त करने के लिए जनता उत्सुक है। कांग्रेस-शासन का स्थान ले सकने वाला विकल्प प्रस्तुत करने की पूरी संभावना है। इस पृष्ठभूमि में जनसंघ की चुनावी तैयारी एवं संगठनात्मक प्रगति की समीक्षा करते हुए, हमारा विश्वास है कि उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश में सभी स्थान लड़े जायें। अन्य राज्यों में जिन चुनाव-क्षेत्रों में पिछले पाँच वर्ष से जनसंघ पर्याप्त रूप में कार्यरत है और जहाँ वह सत्तारूढ़ दल को प्रभावकारी चुनौती दे सकता है, उन्हीं चुनाव-क्षेत्रों में चुनाव लड़ा जाय।

"जिन राज्यों में अन्य राष्ट्रीय लोकतांत्रिक दल सरकार बनाने की स्पर्धा रखते हों, उन राज्यों में जनसंघ उनके साथ सहयोग का हाथ बढ़ायेगा। इसके साथ

ही जनसंघ को आशा है कि जिस राज्य में वह स्वयं सरकार बना सकता है, वहाँ जनसंघ को सरकार बनाने के लिए ऐसे राष्ट्रीय लोकतांत्रिक दल भी सहायता करेंगे।''

अपरिहार्य चरण

१९६७ के चुनाव के बाद सत्ता में आयी 'संविद' (संयुक्त विधायक दल) सरकारों की ओर दो दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह है कि कांग्रेस को सत्ता से हटाने के निश्चय से ही जनता ने विपक्षी दलों को मत दिये हैं। एक प्रकार से ये मत नकारात्मक ही थे। किन्तु उसके साथ ही विचारणीय बात यह है कि क्या कांग्रेस को छोड़कर समान विचारधारा वाले दलों की सरकार बनायी जा सकती है? यदि ऐसा संभव न हो तो कार्यक्रमबद्ध किन्तु जनमत का आदर करने वाली बहुदलीय सरकार ही व्यावहारिक विकल्प होगा। मिली-जुली सरकारें के बारे में दीनदयाल जी का विचार स्पष्ट था। उन्होंने अपने मन में पक्की गाँठ बाँध ली थी कि जनसंघ को सत्ताधिष्ठित करने के लिए मिला-जुला मंत्रिमंडल एक अपरिहार्य चरण है। ऐसी संमिश्र सरकारें बनाना ही जनमत का आदर करने का तर्कसम्मत मार्ग हैं और इस मार्ग को हम स्वीकार नहीं करते तो वह जनता द्वारा व्यक्त विश्वास का हनन करना होगा। इसके बारे में भी उनके मन में कोई संदेह नहीं था। दूसरी दृष्टि यह है कि वे मानते थे कि संमिश्र सरकार बनाकर हमें एक बड़ा सत्कार्य और राष्ट्र-कार्य करने का संतोष मिलने वाला है, क्योंकि मिली-जुली सरकार बनाने के कारण सत्ताभ्रष्ट होने वाली कांग्रेस की सरकारें ''भ्रष्टाचारी तथा जनता के स्वाभिमान के साथ धोखा करने वाली और जनता को सुख से जीने भी न देने वाली सर्वथा जनता-विरोधी'' सरकारें थीं और इसलिए उन्हें नष्ट करना ही वास्तव में बड़ा राष्ट्र-कार्य था।

संमिश्र सरकारें जनतंत्र के लिए कोई नयी बात नहीं हैं। एक ही दल की सरकार हो, तभी वह लोकतंत्र को स्वीकार होती हो, ऐसी बात नहीं। जब कोई नेता विधानसभा में सदस्यों के बहुमत के समर्थन का दावा करते हुए उनकी सूची राज्यपाल को प्रस्तुत करता है, तब वे सदस्य किस दल के हैं यह विचार गौण होता है। किंबहुना, उस बात का विचार करने का कोई कारण भी नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि विधानसभा में नेता को नवीन संसदीय या विधानमण्डलीय दल का बहुमत प्राप्त हो, तो उसे सत्ता में रहने का अधिकार प्राप्त होता है; और ऐसा बहुमत जब तक उसका समर्थन कर रहा है, तब तक उसका वह अधिकार बना रहता है। दीनदयाल जी ने इसी संसदीय प्रणाली के अनुसार संमिश्र सरकारें बनवायीं और उन्हें बनवाते समय यह भी भान उन्हें था कि इन सरकारों की आयु बहुत नहीं होगी।

ऐसे मंत्रिमंडल का प्रारम्भ होते समय ही उन्होंने घोषित किया कि ''आज की परिस्थिति और संमिश्र सरकार की रचना में अंगभूत सीमाओं को ध्यान में रखकर ऐसी आशा करना गलत होगा कि ये सरकारें कोई चमत्कार करके दिखायेंगी। कुछ चकाचौंध करने वाला कार्य कर दिखाने के मोह में आकर ये सरकारें साहसिक पग

उठाती हैं तो वह सर्वथा अनुचित होगा। यह चेतावनी भी इन सरकारों को और उनमें सम्मिलित दलों को हम अभी से दिये देते हैं। आज की दुरवस्था को दूर करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता है अथक परिश्रम एवं कार्यनिष्ठा के साथ निरंतर काम करते जाना। इस बात का बोध रखकर ही जनसंघ मिली-जुली सरकारों में सम्मिलित हुआ है, और इसीलिए ऐसी सरकारों को बनाये रखकर जनता का अधिकाधिक हित करने के लिए जनसंघ अपनी नीतियों को आगे बढ़ाने की शीघ्रता नहीं करेगा।

संमिश्र मंत्रिमंडल का यश-अपयश

मिले-जुले मंत्रिमंडलों की रचना होकर सात महीने बीतने के पश्चात् (और उनके समाप्त होने में भी उतना ही समय जब शेष रह गया था) दीनदयाल जी ने इन मंत्रिमंडलों के बारे में जो भविष्यवाणी की थी, वह विचारणीय है। २१ अक्तूबर, १९६७ को औरंगाबाद में एक सभा को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था—"हाल के चुनाव में कांग्रेस पराजित हो गयी है। २० वर्ष सत्ता में रही कांग्रेस अब वहाँ से हट गयी है। हटने दो। कोई चिंता की बात नहीं। जाने वाले को विदा करो। कांग्रेस गयी और उसके साथ ही जनता के मतों से बनी 'संविद' सरकारें आयीं। संमिश्र सरकारों में जनसंघ भी सम्मिलित है। इन सरकारों में कम्युनिस्टों के साथ जनसंघ भी है, इसका कुछ लोग आश्चर्य करते हैं। कुछ लोग आलोचना करते हैं। लेकिन सोचिए, जनसंघ ऐसी सरकारों में सम्मिलित होने से इन्कार कर देता तो क्या होता? उत्तर सीधा है। कांग्रेस ने ही फिर सरकारें बनायी होतीं। अल्पमत में होते हुए भी कांग्रेस सत्ता में आ जाती। जनता का लोकतंत्र में विश्वास इसके कारण समाप्त हो जाता। मान लीजिए, इस प्रकार कांग्रेस सत्ता में बनी रहती, तो जनता क्या सोचती? यही न कि सरकार मतदान से बदली नहीं जा सकती और अब तो हाथ में हथियार लेने होंगे? हमने मंत्रिमंडल बनाया और उसके कारण जनता का लोकतंत्र में विश्वास तो बढ़ा, साथ ही अपने आप में भी विश्वास बढ़ गया है।

"संमिश्र मंत्रिमंडलों में बहुत तनाव है। किन्तु यह बात स्वीकारनी होगी कि इन सरकारों ने जनता के लिए बहुत से अच्छे काम किये हैं। जनसंघ के बारे में सोचते समय लोगों ने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि ऐसी सरकारों में, जहाँ जनसंघ है और उनमें, जहाँ जनसंघ नहीं है, कितना अन्तर है। जनसंघ का कार्य निस्संदेह मौलिक है। बंगाल तथा केरल में ही केन्द्र के विरुद्ध विद्रोह करने की भाषा प्रारम्भ हुई है। बिहार, उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश में ऐसी भाषा का प्रयोग कोई नहीं करता, यह बात जनता की समझ में बराबर आती है। वहाँ 'सरकार बंद' का नारा नहीं लगता। सरकार का काम 'बंद' करना नहीं, अपितु जो बंद है उसे चालू करना होता है।"

कांग्रेस को दूर ही रखो

भारतीय जनसंघ के उन दिनों के मंत्री श्री नानाजी देशमुख ने संमिश्र मंत्रिमंडल के घटक दलों को संबोधित करते हुए कहा था-"विविध राज्यों में संमिश्र मंत्रिमंडल सफल होने चाहिए। कांग्रेस को सत्ता से दूर रखना हो, तो विविध राज्यों में संमिश्र मंत्रिमंडलों का सफल होना नितांत आवश्यक है। इसलिए उन्हें ऐसा

काम नहीं करना चाहिए जिससे कांग्रेस फिर से सत्ता में आ जाय। ऐसा होता है तो वह लोगों की इच्छा का अनादर करने वाला आचरण होगा।"

प्रथम निष्ठा जनता में

अप्रैल, १९६७ में जनसंघ की प्रतिनिधि-सभा को संबोधित करते हुए अनेक सदस्यों ने यही इच्छा व्यक्त की थी और कहा कि भारत में अब परिवर्तन की राजनीति प्रारम्भ हो गयी है। कुछ प्रतिनिधियों ने यह चेतावनी भी दी कि जनसंघ सत्ता की इस दौड़ में पीछे रह गया तो वह पिछड़ता ही जायेगा। किन्तु सारी चर्चा का मुख्य आशय यही था कि संमिश्र मंत्रिमंडलों के प्रयोग को निष्ठापूर्वक सफल बनाने का प्रयास करना लोकतंत्र की सफलता के लिए नितांत आवश्यक है।

राजनीतिक दल एक माध्यम

लोकतंत्र में सरकार चलाने के एक साधन के रूप में राजनीतिक दलों का महत्त्व होता है। जनमत को प्रकट रूप से संगठित करना, लोगों के अधिकार पर अतिक्रमण होता हो तो उसका प्रतिकार करना और लोगों के दुःखों एवं शिकायतों को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए उनका निवारण करना आदि सारे काम राजनीतिक दलों को करने होते हैं। भारतीय राजनीतिक दल केवल सत्ता प्राप्त करने, सत्ता जीतने, उसे भोगने तथा बनाये रखने में ही निमग्न रहते हैं। दीनदयाल जी एक आदर्शवादी एवं लोकनिष्ठ राजनीतिज्ञ थे, अतः १९६७ में कांग्रेस को सत्ताच्युत करने के बाद उन्होंने कांग्रेस की एकदलीय निरंकुशता को समाप्त करने के लिए पहला पग इन संमिश्र मंत्रिमंडलों के रूप में उठाया। कांग्रेस-विरोधी लोकमत को रचनात्मक रूप देने की आवश्यकता को उन्होंने बराबर पहचाना। अतः केवल कांग्रेस का द्वेष या विरोध करना उन्हें रुचिकर नहीं था। उनका मानना था कि वह रचनात्मक ध्येय नहीं बन सकता। वे कहा करते थे कि कांग्रेस का विरोध करते समय पुनर्रचना का लक्ष्य भी महत्त्वपूर्ण है। भारत में एकदलीय जनतंत्र के बाद द्विदलीय लोकतंत्र नहीं आयेगा, अतः बहुदलीय लोकतंत्र एक अटल व्यवस्था है इस मूलतत्त्व का भान सदैव रखना चाहिए। किन्तु राजनीतिक दलों को आपस में सौहार्द के संबंध भी रखने चाहिए और देखना चाहिए कि लोकसेवा के माध्यम के नाते ही राजनीतिक दलों का संगठन किया जाता है।

स्वस्थ दल-संबंधों की आवश्यकता

दीनदयाल जी की यह विचारधारा राजनीतिक आवश्यकताओं से निर्मित नहीं हुई थी। लोकतंत्र में दलीय व्यवहार के संबंध में उनके अपने स्वतंत्र विचार थे। राजनीति में प्रवेश करते समय से ही उनका उच्चार वे बराबर और लगातार करते थे। १९५२ के वर्ष में राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद ने जो अंतिम तीन-चार भाषण किये, उनके बारे में लिखते समय दीनदयाल जी ने कहा था—"आज एक राजनीतिक दल के दूसरे राजनीतिक दल के साथ संबंध इतने निचले स्तर पर आ गये हैं कि हमारा माथा लज्जा से झुक जाना चाहिए। आज भारत में राजनीतिक दल आपस में लड़ रहे हैं। वे एक दूसरे को टालने का इतना प्रयास करते हैं कि यही स्थिति चालू रही तो इस समाज में नयी जातियाँ पैदा हो जायेंगी। प्रकट रूप से सभी

राजनीतिक दल साम्प्रदायिकता की निंदा करते हैं, किन्तु साम्प्रदायिकता का राजनीतिक रूप में वे पोषण ही करते रहते हैं। सामाजिक अस्पृश्यता निश्चय ही एक कुप्रथा है, किन्तु राजनीतिक अस्पृश्यता उससे भी महाभयानक है।" (आर्गनाइजर, २८ मई, १९५२) संमिश्र मंत्रिमंडल निर्मित हो जायें तो इस राजनीतिक अस्पृश्यता को हटाने में उनका उपयोग हो सकेगा, इस विचार से दीनदयाल जी उनका समर्थन करते थे।

आचार-संहिता का आग्रह

दीनदयाल जी नियमबद्ध शुद्ध आचरण पर बल दिया करते थे। पहले चुनाव में विविध राजनीतिक दलों ने अपने लिए एक आचार-संहिता बनाने का प्रयास किया था। दीनदयाल जी का मत था कि लोकतंत्र में नैतिकता को बनाये रखने के लिए ऐसी आचार-संहिता आवश्यक होती है। अतः, १९६७ में अवसर पाते ही, जनसंघ शुद्ध आचरण का आदर्श प्रस्तुत करे, इसी इच्छा से दीनदयाल जी ने सरकार में सम्मिलित होने वाले जनसंघ के सदस्यों के लिए एक आचार-संहिता अप्रैल १९६७ में प्रतिनिधि-सभा में स्वीकृत करा ली थी जो इस प्रकार थी—(१) जनसंघ के मंत्रियों को प्रतिमास एक हजार रुपए से अधिक वेतन नहीं लेना चाहिए। (२) सभी मंत्रियों को मुख्यमंत्री तथा संसदीय मंडल को अपनी सम्पत्ति का विवरण देना चाहिए। (३) जनसंघ के मंत्रियों को भोज-समारोहों में उपस्थित नहीं रहना चाहिए और बिल्कुल सादा रहन-सहन रखना चाहिए। इस आचार-संहिता को प्रतिनिधि-सभा में प्रस्तुत करते समय दीनदयाल जी ने कहा कि "जनसंघ के मंत्रियों को कार्यक्षमता एवं प्रामाणिकता का आदर्श इस समय प्रस्तुत करना चाहिए। अपने चुनाव क्षेत्र की कांग्रेस की मंत्रियों की भाँति 'विशेष चिन्ता' वे न करें। कांग्रेसी मंत्रियों का आचरण हमारे लिए आदर्श न हो, बल्कि उसे हमें खतरे की घंटी मानना चाहिए। शिवाजी तथा चाणक्य के आचरण के आदर्श जनसंघ के मंत्री प्रस्तुत करें। दीनदयाल जी का शुद्ध आचरण के प्रति कितना आग्रह था, इससे स्पष्ट हो जाता है।

संविद सरकारें—एक अवसर

सारांशः १९६७ में 'कांग्रेस हटाओ' अभियान सफल हो गया और जनता ने विरोधी दलों को सत्ता में आने का अवसर दिया। किन्तु व्यक्ति-स्वार्थ, गुटबाजी, ध्येयशून्यता आदि बातें भारतीय राजनीति में अंगभूत दोष के रूप में इतनी घुल गयी थीं कि गुणात्मक परिवर्तन किये बिना एवं लोकसेवा की लगन रखे बिना संयुक्त सरकारों का सफल होना असंभव था। वही १९६७ में हुआ। किन्तु संमिश्र मंत्रिमंडल के दो राजनीतिक लाभ ये थे कि जनता का कांग्रेस-विरोधी मत प्रदर्शित हो गया और कांग्रेस को जनमत के बल पर सत्ताच्युत किया जा सकता है, यह आत्मविश्वास लोगों में निर्मित हो गया।

८.

राष्ट्रवादी राजनीति के तत्त्वचिंतक

दीनदयाल जी रा. स्व. संघ और जनसंघ की राष्ट्रवादी शक्ति और विचारधारा के प्रतिनिधि के रूप में स्वतंत्र भारत की राजनीति में एक तत्त्वचिंतक एवं दल-संगठक के नाते आये। उनके राजनीतिक जीवन (१९५१-६८) में उपस्थित हुई स्वतंत्र भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं का राष्ट्रवाद तथा लोकतंत्र के परिप्रेक्ष्य में समाधान करने का दायित्व इतिहास ने उन्हें सौंपा था। जनसंघ उनकी दृष्टि से यह कार्य करने का एक माध्यम था। वे उसे साकार करना चाहते थे। कार्य-क्षेत्र नया था। चुनौतियाँ नाना प्रकार की थीं। पास में केवल निष्ठावान, चारित्र्यवान, लोकसेवा की लगन रखने वाले किन्तु राजनीति में अनभिज्ञ कार्यकर्ता ही थे। नेहरू जैसे अंतरराष्ट्रीय कीर्तिप्राप्त, लोकप्रिय तथा गांधी जी का राजनीतिक उत्तराधिकार लिये नेता तथा कांग्रेस जैसे राष्ट्रव्यापी, दृढ़मूल संगठन के विरोध में खड़े होकर एक विपक्षी दल और वैकल्पिक जीवन-प्रणाली वे देश को देना चाहते थे। विचारक, प्रचारक, संगठक एवं राजनीतिक योजनाकार की चारों भूमिकाएं राजनीति में एक ही साथ दीनदयाल जी को निभानी थीं। इसे देखने पर ही कि इन भूमिकाओं में वे कितने सफल रहे और भारतीय राजनीति में जनसघ ने किस वैचारिक परंपरा का निर्माण किया, दीनदयाल जी द्वारा इस देश को जनसंघ के माध्यम से दी गयी तत्त्वदृष्टि एवं नयी राजनीतिक संस्कृति की कल्पना की जा सकती है। कोरे सिद्धांत पुस्तकों में ही धरे रह जाते हैं। इन सिद्धांतों के प्रति प्रतिबद्ध तथा इनमें निहित तत्त्वदृष्टि वाले और तदनुसार आचरण करने वाले कार्यकर्ता ही इन सिद्धांतों के प्रतीक बनकर समाज के जीवन को मोड़ दिया करते हैं। अतः दीनदयाल जी ने जनसंघ को जो तत्त्वदृष्टि दी, उसके द्वारा जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और जो राजनीतिक संस्कृति प्रस्तुत की, वही उनका यथार्थ में दीर्घकाल तक बना रहने वाला सन्दर्भ है। जीवन की समस्याओं का समाधान खोजने के लिए लोकमान्य तिलक सदैव गीता का संदर्भ मन में रखा करते थे और कालदर्शा (कैलेण्डर) में जिस प्रकार हम दिनांक और महीना देखते हैं, उसी प्रकार गीता के श्लोकों का तिलक जी उपयोग करते थे। (संदर्भ–दादा साहिब खापर्डे द्वारा लिखित प्रस्तावना–लोकमान्य तिलक के संस्मरण एवं आख्यायिकाएं, खण्ड ३)

इसी दृष्टि से, दीनदयाल जी ने जनसंघ के माध्यम से किस विषय पर क्या विचार रखे थे जो आज भी हमारे राष्ट्र का मार्गदर्शन करते हैं, उनका विचार इस अध्याय में करना है। दीनदयाल जी राष्ट्रवादी राजनीति के संशयातीत तत्त्वचिंतक थे, किन्तु इससे भी आगे बढ़कर यह बात महत्त्वपूर्ण है कि वे मानवतावादी थे। अतः दीनदयाल जी के सभी तत्त्वचिंतन को आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रवादी एवं मानवतावादी अधिष्ठान (Total Vision) प्राप्त था। वह सब एकात्म एवं परस्पर संलग्न था। स्वतंत्र भारत की समस्याओं की ओर इसी एकात्म दृष्टि से दीनदयाल जी देखा करते थे। न्यायमूर्ति रानाडे कहा करते थे कि आप अंशतः उदार मतवादी नहीं रह सकते। उसी दृष्टि से दीनदयाल जी के चिंतन का समग्र अध्ययन करना होगा, क्योंकि वह एक मूलगामी व सर्वांगीण चिंतन था।

स्वतंत्र भारत की समस्याएं

स्वतंत्र भारत के सामने क्या समस्याएं थीं ? उनका स्वरूप क्या था ? उनका मूल कहाँ था ? उनके समाधान के लिए दीनदयाल जी ने जनसंघ के माध्यम से किन उपायों का सुझाव दिया था ? भारत गणतंत्र को प्राप्त हुए स्वराज्य को ठीक ढंग से चलाना था। समाज की राजनीतिक एवं आर्थिक पुनर्रचना करनी थी। स्वतंत्रता के साथ ही अन्य समस्याओं का समाधान करना था। यह सब करते समय स्वप्न और सत्य, नारे और व्यावहारिकता, ऊँची उठी आशा-आकांक्षाओं तथा प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति में तालमेल पुराने नेतृत्व को बिठाना था। विद्यमान जागतिक प्रवाह और भारत के राष्ट्रीय जीवन में संतुलन स्थापित करना था। ये सब काम अकेले कांग्रेस के नेतृत्व को करने थे। भारतीय राजनीति में शासन सत्ता सर्वथा नयी बात थी। लोकतंत्र के कारण सत्ता का मोह-स्पर्श सब अनुभव कर रहे थे। अनासक्त राजयोगी होकर भी काम चलने वाला नहीं था। अधःपतन से बचाने वाली एवं सत्ता-लोलुपता को नियंत्रित करने वाली ध्येय-निष्ठा कांग्रेस के पास नहीं थी। अतः समाज के सभी स्तरों, गुटों एवं जातियों के ऐरे-गैरे व्यक्ति कांग्रेस में एकत्र होने लगे थे। कांग्रेस की संस्कृति ही बदलती जा रही थी। अधःपतन सदैव शतमुखी होता है; कांग्रेस का भी वही हाल हुआ। कांग्रेस अनुशासनबद्ध एवं सुडौल राजनीतिक दल कभी नहीं था। अतः एक ओर समस्याएं एवं नयी चुनौतियाँ थीं और दूसरी ओर असंगठित एवं सत्ता की खोज में निरंतर लगे राजनीतिक दल का माध्यम था। यह थी १९५१ की राजनीतिक अवस्था।

स्वतंत्र भारत की समस्याओं का वर्गीकरण करने पर पता चलता था कि पाँच प्रकार की समस्याएं उसके सम्मुख समाधान की मांग करती हुई मुँह बाए खड़ी थीं। पहली समस्या थी, समाज के राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रबोधन की। दूसरी थी, पुनर्रचना की। तीसरा वर्ग समन्वय से हल की जा सकने वाली समस्याओं का था। विश्व में तथा भारत में भी दो छोर की जीवन-प्रणालियाँ अस्तित्व में थीं। उनमें से किसी एक जीवन-प्रणाली को पूर्णतः स्वीकारना हितकारी नहीं था। चौथे वर्ग में सामाजिक तनाव की समस्याएं आती थीं। हिन्दू-मुसलमान, हरिजन-वनवासी एवं समाज में व्याप्त अन्य तनावों को

सामाजिक सम्मिलन तथा समरसता द्वारा समाप्त कर एकात्म भारतीय समाज का निर्माण संभव था, क्योंकि सामाजिक तनाव के कारणों को बनाये रखकर सामाजिक-शांति का निर्माण असंभव होता है। पाँचवें प्रकार में प्रशासनात्मक पुनर्रचना की समस्याएं आती थीं। स्वराज्य का रूपांतर सुराज्य में करना समय की माँग थी। भारतीय लोकतंत्र एवं राजनीतिक स्वतंत्रता की वह प्रतिदिन अनुभव की जाने वाली कसौटी थी। जनसंघ एवं दीनदयाल जी के इन सब प्रकार की समस्याओं के बारे में क्या विचार थे, उनमें क्या कुछ निरालापन और विशुद्ध भारतीय था, इसका विचार करने पर अपने आप सिद्ध हो जायेगा कि क्या दीनदयाल जी के विचार आज भी पथ-प्रदर्शक हैं।

अखण्ड भारत

भारतीय राष्ट्रवाद मूलतः एक जन, एक देश तथा एक संस्कृति पर आधारित राष्ट्रवाद होने के कारण बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक के सम्प्रदायवादी सिद्धांत पर पराभूत नेतृत्व द्वारा किये गये भारत के विभाजन को जनसंघ ने स्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से १९५३ के १५ अगस्त को भारतीय प्रतिनिधि-सभा ने अखण्ड भारत पर जनसंघ की श्रद्धा को प्रकट करने वाला प्रस्ताव पारित किया था। इस प्रस्ताव में कहा गया था—"भारत का विभाजन उसकी अपनी मूल संस्कृति के विरुद्ध था। विभाजन के कारण समस्याओं का समाधान होने के बजाय अन्य भीषण समस्याएं उत्पन्न हो गयी हैं। एक देश, एक राष्ट्र, तथा एक संस्कृति के सिद्धांत पर जनसंघ का विश्वास है और यह उसकी आस्था है कि उन्हीं के आधार पर हमारी उन्नति हो सकेगी। अतः इसी आदर्श को सम्मुख रखते हुए अखण्ड भारत के लिए जनसंघ प्रयत्नशील रहा है।" इस संकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए दीनदयाल जी ने कहा था—"कांग्रेस ने द्विराष्ट्रवाद के सिद्धांत के सामने घुटने टेक दिये हैं, किन्तु जनसंघ मानसिक दृष्टि से इस विभाजन को स्वीकार नहीं कर सकता।" (आर्गनाइजर, मई, १९५८) जनसंघ का अखण्ड भारत का नारा हिंसा पर आधारित नहीं है। जनसंघ तब तक प्रतीक्षा करेगा, जब तक पाकिस्तानी जनता की समझ में उसकी अपनी भूल नहीं आ जाती। यदि इसे सच भी मान लें कि १९४७ में राजनीतिक परिस्थिति के कारण विभाजन अटल हो गया था, तब भी अपनी भूल को सुधारने की भाषा कांग्रेस आज भी नहीं बोल रही है। किन्तु जनसंघ आशा रखता है कि एक ही राष्ट्र के ये दो भाग फिर से एक होंगे तथा अखण्ड भारत का निर्माण पुनः होगा। यह स्पष्टीकरण दीनदयाल जी दिया करते थे। १७ अगस्त, १९६५ को पारित एक प्रस्ताव में जनसंघ की प्रतिनिधि-सभा ने अखण्ड भारत एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता पर अपनी श्रद्धा को तत्संबंधी अपनी भूमिका के साथ पुनः स्पष्ट किया था। लक्षणीय है कि भारत-पाकिस्तान युद्ध उसी वर्ष हुआ था। किंबहुना, जनसंघ १५ अगस्त के दिन को 'अखण्ड भारत दिवस' के रूप में मनाता था। इस प्रस्ताव का अर्थ यही था कि भारत की सांस्कृतिक एकात्मता के आधार पर 'अखण्ड भारत' का निर्माण संभव है। प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि पाकिस्तान के साथ भारत के संबंध तुष्टीकरण के नहीं होने चाहिए। मुस्लिम

समस्या की जड़ कांग्रेस की तुष्टीकरण नीति में है, इसे स्पष्ट करते हुए प्रस्ताव में कहा गया था—"विभाजन के बने रहते भारत और पाकिस्तान में शांति स्थापित नहीं होगी। पाकिस्तान की गुंडागर्दी के सामने झुकने या उसका तुष्टीकरण करने की नीति के कारण ही दोनों में दूरियाँ बढ़ रही हैं। भारत के अनेक मुसलमान भावनात्मक दृष्टि से पाकिस्तान से जुड़े हैं। इस परिस्थिति को बदलने के लिए दोहरे उपाय करने होंगे। एक तो यह कि पाकिस्तान के साथ 'जैसे को तैसा' सिद्धांत पर आधारित संबंध रखा जाये। जिस दिन पाकिस्तान यह अनुभव करेगा कि सम्पूर्ण भारत को जीतने का उसका स्वप्न कभी साकार नहीं हो सकता, पाकिस्तान अंतर्मुख बनेगा और विभाजन की भूल उसकी समझ में आ जायेगी। किन्तु इसके लिए 'शठे शाठ्यम' वाली नीति पर चलना ही उपाय है। दूसरा उपाय है भारत के मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए कभी भी उनके साथ राजनीतिक सौदेबाजी न करना। भारत के असाम्प्रदायिक राज्य में उनके सभी अधिकार सुरक्षित हैं। किन्तु मुसलमानों में पाकिस्तानी प्रवृत्ति प्रकट करने वाली बातों को कभी सहन न करते हुए उनके दृष्टिकोण का भारतीयकरण करना होगा।" (भारतीय जनसंघ—घोषणा व प्रस्ताव, पृष्ठ ७५-७६) जनसंघ की यह भूमिका थी। आगे चलकर डा. लोहिया तथा दीनदयाल जी ने भारत तथा पाकिस्तान महासंघ की कल्पना प्रस्तुत की। उस संबंध में अप्रैल, १९६४ में निकाली गयी एक संयुक्त विज्ञप्ति में स्पष्टीकरण हो गया है—

"हमारा स्पष्ट मत है कि हिन्द तथा पाक यह विभाजन पूर्णतः कृत्रिम है। एक दूसरे से संबंधित प्रश्नों का अधूरा समाधान ढूँढने तथा एक-एक प्रश्न का अलग-अलग विचार करने की दोनों देशों की सरकारों की नीति के कारण ही आज दोनों राष्ट्रों के आपसी संबंध बिगड़े हैं। इस प्रणाली को त्याग कर सभी समस्याओं का सम्यक् दृष्टि तथा खुले हृदय से विचार करना चाहिए। ऐसा करने से भारत और पाकिस्तान के बीच आज पायी जाने वाली विवादपूर्ण समस्याओं का निराकरण होगा और वर्षानुवर्ष दोनों में चली आ रही सद्भावना का फिर से निर्माण होगा। उसी में से किसी न किसी स्वरूप का हिन्द-पाक महासंघराज्य स्थापित होने की प्रक्रिया प्रारंभ हो जायेगी।

"भारतीयों को चाहिए कि अपने मन की आज की प्रक्षुब्ध अवस्था में राष्ट्रीय जीवन के आधारभूत एवं सच्चे सिद्धांतों का विस्मरण न होने दें। पाकिस्तान में अल्पसंख्यक हिन्दू तथा अन्य धर्मावलम्बियों के जान-माल की रक्षा भारत सरकार को करनी या करवानी चाहिए। ये अल्पसंख्यक लोग पाकिस्तान के नागरिक हैं, यह बहानेबाजी लंगड़ी और खतरनाक भी है। कारण भारत सरकार पाक में रहे अल्पसंख्यक लोगों के बारे में अपने कर्तव्य को भुला बैठी तो उसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान तथा भारत में अधिक विशाल पैमाने पर मानव-संहार होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। भारत सरकार अपने कर्तव्य में चूक गयी तो इस पर हिन्दू जनता को क्रोध आना स्वाभाविक है।

"जो सरकार अपने नागरिकों का जीने का अधिकार सुरक्षित नहीं रख सकती

और जो राष्ट्र अपने पड़ोसी नागरिकों के इस अधिकार का रक्षण नहीं कर सकता वह सरकार और वह राष्ट्र जंगली है। सभी नागरिकों की स्वतंत्रता और सुरक्षा का संरक्षण करना हमारी पवित्र परंपरा है।

"भारत में हर मुसलमान नागरिक को हम इस बारे में आश्वस्त करना चाहते हैं। प्रत्येक हिन्दू परिवार में यह सन्देश पहुँचाना और प्रत्येक का आचरण इस संदेश के अनुसार रहे, इसकी सावधानी बरतना हमारा बिल्कुल प्राथमिक एवं राष्ट्रीय कर्तव्य है और यह भावना सर्वत्र फैले, यही हमारी इच्छा है।" (संदर्भ–'भारत-विभाजन के अपराधी', डा. राममनोहर लोहिया, पृष्ठ १३५-१३६, प्रेस्टीज प्रकाशन)

राष्ट्रीय एकात्मता और मुसलमान

इससे पूर्व १९ दिसम्बर, १९६१ के दिन राष्ट्रीय एकात्मता परिषद् में श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इस बारे में जनसंघ के विचार स्पष्ट शब्दों में रखे :"यह बात खेदपूर्वक कहनी पड़ती है कि राष्ट्रवाद के निर्माण के लिए चल रहे प्रयोग में भारत के मुसलमानों का बड़ी मात्रा में सहयोग नहीं मिला है। उन्होंने सब प्रयास राजनीति और मजहब को एक मानकर किये। विदेशी सत्ता के साथ एकरूप होने के कारण उनके जीवन में यह विकृति पैदा हुई। उसका धर्म के साथ कुछ भी संबंध नहीं रहा। यह सिद्ध करने के लिए कि भारतीय समाज से हम भिन्न हैं, अपना रहन-सहन, प्रथा, रीति-रिवाज आदि अलग रखने के प्रयास उन्होंने किये और इस भूमि के साथ जुड़े हुए समाज से अपने आपको पृथक् कर लिया। राम और कृष्ण को अपने पूर्वज मानने को वे तैयार नहीं थे और जिन तीज-त्यौहारों का धर्म के साथ कतई कोई संबंध नहीं, उनको भी ये लोग मानने से इंकार करते रहे और उनसे दूर रहे।

"मुस्लिम और ईसाई बाहर से आये हुए लोग नहीं हैं, उनके पूर्वज हिन्दू ही थे। धर्म बदल जाने से राष्ट्रीयता में परिवर्तन नहीं होता, संस्कृति भी नहीं बदलती। धर्म के आधार पर मुसलमान या ईसाई लोगों को अल्पसंख्यक मानने का अर्थ है राजनीतिक, अर्थनीति एवं सामाजिक जीवन में भी धर्म के आधार पर विभाजन करना। यह तो प्रच्छन्न द्विराष्ट्रवाद या बहुराष्ट्रवाद को स्वीकारना हुआ। वस्तुतः राष्ट्रीय एकात्मता का प्रश्न मूलतः संकुचित निष्ठाओं को त्यागकर राष्ट्र-निष्ठा को स्वीकारने का प्रश्न है। इसके लिए लोगों के मन-मस्तिष्क से संकुचित निष्ठाओं को निकाल बाहर करने का प्रयास होना चाहिए।"

१९५६ में 'जनसंघ और मुसलमान' विषय पर एक भेंटवार्ता में श्री वाजपेयी ने कहा था–"जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक, मुक्ति का मार्ग मानकर, इस्लाम या ईसाई मत को स्वीकार करना चाहते हैं, उनको अपने विवेक के अनुसार आचरण करने की छूट मिलनी चाहिए। भारत में रहने वाले और यहीं पैदा हुए मुसलमान इसी देश के पुत्र और कन्याएं हैं। कांग्रेस ने उन्हें घूस देकर राष्ट्रीय बनाने का प्रयत्न किया। इस होड़ में कांग्रेस ने अंग्रेजों को भी मात दे दी। अंग्रेजों ने उन्हें एक स्वतंत्र राज्य दिया, तो कांग्रेस ने जब वे केवल ३० प्रतिशत थे, उन्हें ५० प्रतिशत स्थान देने की

बात स्वीकार कर ली। भारत का फिर से विभाजन न करना हो, तो मुसलमानों के तुष्टीकरण की राजनीति बंद होनी चाहिए।" (आर्गनाइजर—दीपावली विशेषांक, १९५६)

काश्मीर का एकीकरण

शेख अब्दुल्ला अपने असाधारण स्थान एवं नेहरू जी के साथ अपने व्यक्तिगत स्नेह-संबंधों का अनुचित लाभ उठाकर काश्मीर को स्वतंत्र रखने एवं उसे भारतीय संघ-राज्य से अलग स्थान प्राप्त करा देने का प्रयास कर रहे थे। जम्मू प्रजा परिषद् के आंदोलन को जनसंघ ने अपना समर्थन दिया था। यही नहीं, उसके लिए सत्याग्रह भी किया था। इस सत्याग्रह में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी का निधन हुआ। शेख अब्दुल्ला की भारत-विरोधी गतिविधियों को जनसंघ ने उजागर किया। संविधान की धारा ३७० को निरस्त करने का आग्रह रखने वाला और उसके लिए संघर्ष करने वाला जनसंघ ही एकमात्र दल था। २९ जून, १९५२ को जनसंघ ने 'काश्मीर-दिवस' मनाया। काश्मीर के प्रश्न पर जन-जागरण करने का उपक्रम उसने किया जिसमें काश्मीर-प्रश्न के बारे में सर्वांगीण जानकारी देने का प्रयास किया गया। काश्मीर भारत का अविभाज्य घटक है, अतः संविधान में उसे स्वतंत्र सांविधानिक स्तर देने वाली धारा ३७० को निरस्त करना चाहिए। तभी देश के राष्ट्रीय एवं राजनीतिक प्रवाह में काश्मीर सम्मिलित हो सकेगा। काश्मीर सरकार अपना अलगपन बनाये रखने का प्रयास कर रही है। काश्मीर में भारत-विरोधी प्रवृत्ति का मूल कारण यह अलगाव ही है। अतः धारा ३७० को निरस्त करना नितांत आवश्यक है। १९५२ से काश्मीर के एकीकरण की मांग जनसंघ लगातार कर रहा था। काश्मीर की राजनीति अब्दुल्ला की बपौती नहीं या नेहरू की वह व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है, इस बात को भारतीय राजनीति में निश्चयपूर्वक तथा लगातार रखने का कार्य जनसंघ ने किया। डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने उसके लिए अपना बलिदान दे दिया, जो भारतीय लोकतंत्र एवं राष्ट्रीय एकात्मता का भावात्मक प्रतीक ही था।

असम की समस्या

अशान्त असम की चिन्ता को भारतीय राजनीति में प्रकट करने का कार्य जनसंघ ने किया। १९६१ में श्री सुन्दरसिंह भण्डारी की अध्यक्षता में असम प्रदेश जनसंघ का अधिवेशन हुआ। उसमें, असम में चली आ रही पाकिस्तानियों की घुसपैठ को रोकने की मांग करने वाला प्रस्ताव पारित किया गया। असम में २२ लाख वनवासी हैं जिनमें से ९ लाख पर्वतीय क्षेत्रों में रहते हैं। असम में पहाड़ी राज्य की कल्पना का अंग्रेजों ने समर्थन किया और उनमें पृथक्ता की भावना याजनापूर्वक बढ़ायी। विदेशी मिशनरियों को देश-निकाला दिये बिना पृथक्ता के इस आंदोलन को जड़-मूल से उखाड़ा नहीं जा सकता। सारांश यह कि पूर्व पाकिस्तान से होने वाली घुसपैठ एवं ईसाई मिशनरियों का पृथक्तावादी आंदोलन, दोनों के कारण असम के लिए उत्पन्न संकट को जनसंघ ने लोगों के सम्मुख सतत प्रस्तुत किया। राष्ट्रीय एकता को बाधा पहुँचाने वाले राजनीतिक आंदोलनों एवं

प्रवृत्तियों का निर्मूलन करना चाहिए, यही जनसंघ की राष्ट्रवादी राजनीति का आरंभ से सूत्र था।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगे

जनसंघ की हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न के बारे में भूमिका को, लगता है कि, कांग्रेस शासन ने कभी ठीक से समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। कांग्रेस हिन्दुत्ववाद को समझ लेने की इच्छा भी नहीं रखती। उसके विचार में हिन्दू होना ही इस देश में पाप तथा हिन्दुत्व का राजनीतिक विचार के रूप में समर्थन करना महापाप है। अतः हिन्दू-मुसलमान दंगा होते ही उसके लिए रा. स्व. संघ एवं जनसंघ को दोषी ठहराना कांग्रेस सरकार की नीति रहती आयी है। तथापि इस विषय पर जनसंघ ने अनेक बार अपना मत स्पष्टता के साथ रखा है। १४ जून, १९६८ को गोहाटी में जनसंघ द्वारा पारित प्रस्ताव अधिक विस्तृत है। उसमें कहा गया है–"साम्प्रदायिकता का विष-बीज स्वतंत्रता-पूर्व काल का है। स्वतंत्रता के पूर्व तर्क दिया जाता था कि अंग्रेजों की सत्ता इन दंगों के पीछे हुआ करती है। तभी से 'साम्प्रदायिक त्रिकोण' शब्द प्रचलित हो गया है। फलस्वरूप विभाजन के बाद साम्प्रदायिक दंगे बंद होने की आशा थी;परन्तु वह कितनी मिथ्या और उथली आशा थी, इस बात को अब अनुभव किया जा रहा है। इसका अर्थ यही हुआ कि इस समस्या की कारणमीमांसा एक इतिहासनिष्ठ दृष्टिकोण से करने की नितांत आवश्यकता है।"

भारतीय जनसंघ ने दंगों की कारणमीमांसा करने के लिए अपनी एक समिति नियुक्त की थी। उस समिति ने पाया कि "बहुधा दंगों के नैमित्तिक कारण (तात्कालिक बहाने) क्षुद्र होते हैं, किन्तु उनकी तैयारी पहले से की होती है। थोड़ी ही अवधि में श्रीनगर, करीमगंज, इलाहाबाद, औरंगाबाद जैसे दूर-दूर के नगरों में दंगे फैल जाते हैं। इसका अर्थ केवल यही है कि दंगा फैलाने वाली शक्तियाँ पहले से ही विद्यमान रहती हैं और केवल बहाने की प्रतीक्षा करती रहती हैं। प्रत्येक राजनीतिक विचारधारा के दल ने अपने दलगत स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिक दंगों को प्रोत्साहन देने या दूसरों पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाने का बहुत ही खतरनाक खेल खेला है। उसे बंद करने में ही राजनीतिक दलों का हित है। राष्ट्रीय एकात्मता एक बहुमूल्य सिद्धांत है। राजनीति की वेदी पर उसकी बलि कदापि नहीं चढ़ायी जानी चाहिए।" जनसंघ ने साम्प्रदायिक दंगे कम करने के लिए रचनात्मक उपाय सुझाये थे। इनमें विधि और व्यवस्था का संकट उत्पन्न करने वाले सबको बन्दी बनाना चाहिए, राजनीतिक नेताओं को इस विषय में हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिए, आदि महत्त्वपूर्ण सुझाव थे। हिन्दू-मुस्लिम दंगे कम करने के लिए शैक्षणिक उपायों का आग्रह भी जनसंघ ने रखा था। उनमें कहा गया था कि दंगों के पीछे विदेशी हाथ होने की संभावना को भी ध्यान में रखना चाहिए।

राष्ट्रीय एकात्मता का माध्यम भाषा

भारत की राजनीति का प्रश्न भी राष्ट्रीय एकात्मता की दृष्टि रखते हुए जनसंघ ने हाथ में लिया था। राष्ट्रीय एकात्मता परिषद् में सितम्बर १९६१ में इस

विषय पर बोलते हुए श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने राष्ट्र-भाषा हिंदी, प्रादेशिक भाषा तथा संस्कृत का समर्थन किया था। दीनदयाल जी ने मई १९६० में एक लेख में जनसंघ की भाषा-विषयक नीति को विशद किया था। यह बताते हुए कि अंग्रेजी के बारे में दोगली एवं दुरंगी नीति छोड़कर 'त्रिभाषा सूत्र' को प्राथमिकता से व्यवहार में लाना चाहिए, लेख में कहा गया है—"मेरे विचार में सभी दृष्टियों से त्रिभाषा-नीति ही सबसे उपयोगी नीति है। यह आवश्यक नहीं कि तीन भाषाओं का समान स्तर हो। मातृभाषा को सर्वोच्च स्थान दिया जाना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा पूर्ण करने तक शिक्षा का प्रबंध मातृभाषा में होना चाहिए। भारत जैसे बहुभाषी देश में यह आवश्यक है कि प्रत्येक विद्यार्थी कम से कम दो भाषाओं से अवगत रहे। स्पष्ट है कि भारतीय भाषाएं देवनागरी लिपि स्वीकार करें तो प्रादेशिक भाषा सीखना कोई कठिन काम नहीं होगा। एक विदेशी भाषा के नाते अंग्रेजी भाषा सीखने का भी प्रबंध होना चाहिए। रूस, जापान तथा जर्मनी में भी अंग्रेजी पर्याप्त बड़ी मात्रा में सीखी जाती है। किन्तु वे लोग अंग्रेजी के दास नहीं बने या प्रशासन के माध्यम के रूप में उन्होंने अंग्रेजी को स्वीकार नहीं किया। व्यापार, उद्योगधन्धों आदि के शैक्षणिक माध्यम के रूप में उन देशों में अंग्रेजी का प्रयोग नहीं किया जाता। हम इन क्षेत्रों से अंग्रेजी को निकाल बाहर करते हैं, तो वह एक बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी। जब तक प्रशासन में अंग्रेजी है, तब तक विद्यार्थी अंग्रेजी सीखेंगे ही। उसके स्थान पर प्रादेशिक भाषा प्रशासन का माध्यम हो गयी, तो अन्य भाषाओं की अपेक्षा वही भाषा छात्र सीखेंगे।" (आर्गनाइजर, २८ मई, १९६७)

सारांश यह कि राष्ट्रीय एकात्मता की लगन जनसंघ ने प्रारम्भ में ही रखी थी। संस्कृत भारत की राष्ट्रीय एकात्मता का आधार है, यह बात जनसंघ ने दृढ़तापूर्वक रखी। यही नहीं, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का उसी दृष्टिकोण से उसने सतत् विचार किया। दीनदयाल जी के सारे चिंतन का आत्मा राष्ट्रवाद एवं संस्कृतिनिष्ठा है। यही दृष्टिकोण उन्होंने जनसंघ को दिया। भारत की सब समस्याओं का निदान उन्होंने इसी दृष्टिकोण से किया। दीनदयाल जी की यह तत्त्वदृष्टि भारतीय राजनीति का एक चिरंतन संदर्भ बन गया है।

राष्ट्रवादी अर्थनीति के आधारसूत्र

स्वतंत्र भारत की समस्याओं के पाँच प्रकार प्रारम्भ में दिये गये हैं। उनमें से एक है पुनर्रचना की समस्या। सामाजिक तथा राजनीतिक पुनर्रचना की भांति आर्थिक पुनर्रचना भी करनी थी। पूरे भारत के कुछ आर्थिक प्रश्न हैं। उसकी अपनी स्वतंत्र अर्थव्यवस्था है। न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानाडे ने १९वीं सदी में इसका बोध जगाया। भारत की दरिद्रता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा किया जाने वाला आर्थिक शोषण, दो ऐसे आर्थिक सत्य थे जो आर्थिक राष्ट्रवाद की नींव से जुड़े थे। गांधीजी ने खादी, ग्रामोद्योग एवं ग्रामोदय की नवीन परिकल्पनाएं देकर आर्थिक राष्ट्रवाद को भारतीय अधिष्ठान दिया। किन्तु इस पुनर्रचना में आधुनिक विज्ञान, तंत्र-विज्ञान, यंत्र-विज्ञान, नये आर्थिक उपकरण आदि का विचार करना

आवश्यक था। नेहरूजी ने आर्थिक नियोजना का पर्व देश में प्रारम्भ कर विश्व की अर्थनीति से भारत की अर्थनीति का तालमेल बिठाने का प्रयास किया। किन्तु ऐसा करते समय उन्होंने रूस और अमरीका के नमूने अपने सम्मुख रखे। परिणामस्वरूप भारत में निर्धनता कम तो नहीं हुई, आन्तरिक शोषण करने वाला एक नये वर्ग का अवश्य निर्माण हो गया। करोड़ों लोग दरिद्रता की रेखा के नीचे धकेल दिये गये तथा परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होकर भी आर्थिक विषमता बढ़ती गयी। समाजवादी या कम्युनिस्ट विचारधारा वाले दलों ने इन मूलभूत आर्थिक दोषों की ओर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण ही समाजवाद है, यह अवधारणा उनके मन में गहरी जड़ें जमा चुकी थी। गांधीजी के आर्थिक सिद्धांत एवं उसमें निहित भारतीय आर्थिक वस्तुस्थिति एवं आवश्यकताओं का बोध जैसी महत्त्वपूर्ण बातों को पं. नेहरू ने भी भुला दिया और वामपंथी दलों ने भी। अतः 'अंधेन नीयमाना यथान्धाः' वाली अवस्था हमारे देश की हो गयी। डा. लोहिया ने 'छोटे यंत्र' की परिकल्पना प्रस्तुत करते हुए गांधीवादी आर्थिक चिंतन को नयी दिशा देने के प्रयास किये।

दीनदयाल जी ने भारत की अर्थनीति के लिए स्वदेशी, विकेन्द्रीकरण, संरक्षण तथा विकास का संयुक्त विचार और विदेशी ऋणों से मुक्ति एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता की पाँच अवधारणाएं जनसंघ के माध्यम से भारत के सम्मुख रखने का प्रयास किया। आर्थिक पुनर्रचना की राष्ट्रवादी तत्त्वदृष्टि दीनदयाल जी की भारत को देन है। इसी में भारतीय अर्थनीति के चिरकालीन आधारसूत्र सन्निहित हैं। दीनदयाल जी का मानना था कि राजनीतिक दल समाज-परिवर्तन के माध्यम हैं। अतः परिवर्तन के साधन एवं माध्यम के रूप में उन्होंने जनसंघ का विचार किया। १९७७ में राजनीतिक आवश्यकता के रूप में जनसंघ का राजनीतिक विलीनीकरण जनता दल में हुआ। फिर भी उनके द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारसूत्रों को चिरकालीन ही माना जाना चाहिए और उनका निरंतर समर्थन करते रहना चाहिए।

स्वच्छ एवं लोकाभिमुख प्रशासन

नारी-जीवन में शील एवं चारित्र्य का जो महत्त्व होता है, वही प्रशासन में निष्कलंकता एवं कार्यक्षमता का होता है। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद लोग स्वाभाविक रूप से चाहते थे कि प्रशासन का रूपांतर धर्मराज्य या रामराज्य में हो जाये। जनसंघ ने प्रशासन की शुचिता एवं दक्षता का महत्त्व विशद किया था। अन्य किसी भी राजनीतिक दल ने प्रशासन का पुनर्रचनात्मक और मौलिक विचार ही नहीं किया। २५ जनवरी, १९६० को अपने आठवें अधिवेशन में जनसंघ ने दमखम के साथ एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें कहा गया था कि "सत्ताधारी दल की राजनीति इस देश में व्याप्त भ्रष्टाचार का मूल है। यह भी कहा गया था कि जनसंघ की मान्यता के अनुसार राष्ट्रीय एकता, लोकतंत्र एवं दक्ष प्रशासन राजनीतिक प्रगति का मुख्य आधार है।" (भारतीय जनसंघ—घोषणा व प्रस्ताव, पृ. १६५) जल को शुद्ध करने के लिए स्थायी व्यवस्था आवश्यक होती है। प्रशासन को शुद्ध

करने के लिए भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। सत्ताधारी दल को बदल भी दिया जाय, तब भी शासन स्वच्छ प्रशासन देगा इसका कोई भरोसा नहीं होता, क्योंकि प्रशासन को अन्ततोगत्वा लोग ही चलाया करते हैं और लोभ के चक्कर में वे कभी भी भ्रष्टाचार के पंक में डूब सकते हैं। अतः शुद्धिकरण की प्रक्रिया निरंतर चालू रखनी होती है। इस दृष्टि से शासन-प्रणाली कुछ भी हो, प्रशासन की शुचिता, दक्षता एवं लोकाभिमुखता उसके मौलिक गुण हैं।

लोकतंत्र की आचार-संहिता

लोकतंत्र एक जीवन-प्रणाली है, केवल शासन-प्रणाली नहीं। उसके पीछे सामाजिक विचार तथा एक सामाजिक निष्ठा भी है। भारत ने लोकतंत्र को स्वीकारा तो है, किन्तु वह औपचारिक स्वीकृति थी। समाजनिष्ठ व्यक्तियों का निर्माण किये बिना लोकतंत्र की सत्ता देश में आ गयी। परिणामतः समाज में व्याप्त सम्प्रदायवाद एवं व्यक्तिवाद के हाथ में वह सीधी चली गयी। सत्ता कांग्रेस के हाथ में गयी। समाज में असंगठित एवं स्वार्थी लोगों ने उसे हथिया लिया। सत्ता का सामाजिक ध्येय नहीं रहा। इसीलिए दीनदयाल जी ने प्रारम्भ में ही कह दिया था कि जनसंघ को सर्वसामान्य जनता का दल बनना चाहिए। वे आलोचना किया करते थे कि भारतीय राजनीति समाजनिष्ठ न रहकर व्यक्तिनिष्ठ हो गयी है। दीनदयाल जी का जनसंघ वालों को यही संदेश था कि जनसंघ राजनीति में सामान्य मानव को अपना आराध्य माने।

वे आग्रहपूर्वक कहा करते थे कि ऐसा करने से राजनीतिक दल केवल सत्ता-प्राप्ति का साधन न होकर लोकसेवा और परिवर्तन का माध्यम बन जायेंगे। परिणामस्वरूप दीनदयाल जी के सामने लक्ष्य था कांग्रेस की सत्ता-संस्कृति से भिन्न राजनीतिक संस्कृति का निर्माण। इस ध्येयनिष्ठ दृष्टिकोण के कारण दीनदयाल जी का विचार था कि राजनीतिक दल केवल सत्ता-स्पर्धक न बनकर लोकसेवा के स्पर्धक बनें। संक्षेप में, दीनदयाल जी का राजनीतिक लक्ष्य यह था कि राजनीति के व्यक्तिवादी एवं सत्तावादी स्वरूप को आमूल-चूल बदलकर जनसंघ उसे जनवादी एवं राष्ट्रवादी दिशा दे। उनका मुख्य राजनीतिक विचार था कि राजनीति का ऐसा स्वरूप बनने पर ही वह मूल्यवादी एवं सत्तानिरपेक्ष होगी।

राजनीतिक दल लोकसेवा एवं सामाजिक पुनर्रचना के साधन बन जायें, तभी दलगत राजनीति का रूप पलटेगा, इस विचार के कारण ही दीनदयाल जी ने राजनीतिक दलों के लिए एक आचार-संहिता का सुझाव दिया था। राजनीतिक दल राजनीतिक समुदाय होते जा रहे थे। दीनदयाल जी को यह बात चुभती थी। वे कहा करते थे कि इस राजनीतिक साम्प्रदायिकता से राजनीतिक अस्पृश्यता पैदा होती है। राजनीतिक दल मुक्त विचारवाला, किन्तु अनुशासनबद्ध, ध्येयवादी एवं जनवादी हो, यह उन्होंने जनसंघ को संगठित कर दिखा दिया। लोकतंत्र पर उन्होंने केवल निबंध नहीं लिखा, बल्कि एक आदर्श राजनीतिक दल का निर्माण करके दिखा दिया। गांधी जी ने कांग्रेस का विसर्जन कर उसे 'लोकसेवकसंघ' में बदल देने का सुझाव दिया था। किन्तु कांग्रेस का विसर्जन तो हुआ नहीं, उल्टे वह सत्ता के

प्यासे लोगों का ही दल बन गया। दीनदयाल जी ने जनसंघ को सत्तावादी दल बनने नहीं दिया, बल्कि उसे जनता के दल का रूप देने का प्रयास किया।

लोकतंत्र का भारतीय स्वरूप

दीनदयाल जी की राजनीतिक श्रद्धाओं में राष्ट्रवाद एवं लोकतंत्र की दो श्रद्धाएं आधारभूत थीं। दोनों के पाश्चात्य अर्थ को ज्यों का त्यों न स्वीकारते हुए उन्होंने उनको भारतीय अर्थ प्रदान करने का प्रयास किया। कारण, 'भारतीयो भूत्वा भारतं यजेत्' अर्थात् 'भारतीय होकर भारत की सेवा करो' ही उनके जीवन-दर्शन का सार था।

भारत द्वारा संसदीय जनतंत्र को स्वीकार करने के बाद पाश्चात्य विचारों के प्रतीक एवं पाश्चात्य विचारधारा के संवाहक दल के रूप में भारत में राजनीतिक जीवन को संगठित करने से उन्होंने इन्कार किया। विशुद्ध भारतीय, उसकी मिट्टी के प्रति निष्ठा रखने वाले तथा भारतीय जीवन-मूल्यों के आधार पर पुनर्रचना करने वाले राजनीतिक दल के रूप में जनसंघ को संगठित करने का लक्ष्य उन्होंने अपने सम्मुख रखा। लोकतंत्र का भारतीय स्वरूप इस दल के माध्यम से दीनदयाल जी लोगों के सम्मुख रखना चाहते थे।

अतः दीनदयाल जी ने प्रारम्भ से ही अन्य राजनीतिक दलों के साथ मैत्री के संबंध जोड़ने का प्रयास किया। उसके लिए अनेक नये उपक्रम उन्होंने प्रारम्भ किये, कतिपय उपक्रमों का सुझाव दिया और नयी परिकल्पनाओं को प्रचलित करने का प्रयास भी किया। उदाहरण के लिए, पंडित नेहरू जब कांग्रेस के अध्यक्ष बन गये तो दीनदयाल जी ने उन्हें पत्र लिखकर सुझाव दिया कि प्रत्येक दल को चाहिए कि अपने अधिवेशन के लिए प्रेक्षक के रूप में अन्य दलों के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित करने की प्रथा प्रारम्भ करें। हरेक दल को अपनी विचारधारा एवं कार्यक्रम निश्चित कर एक आचार-संहिता बनानी चाहिए। महानिर्वाचन में राष्ट्रीय समस्याओं का ही विचार प्रस्तुत किया जाय और उनके समाधान का अपना मार्ग मतदाताओं के सम्मुख प्रत्येक दल प्रस्तुत करे। दो चुनावों के बीच के अन्तराल में जनता के प्रश्न सरकार के सम्मुख रखने के लिए निवेदन आदि जनतंत्रीय माध्यम लोकतंत्र में पर्याप्त प्रभावकारी बनें। आंदोलन होते हों तो सरकार आंदोलन करने वालों के साथ चर्चा करे। आंदोलनों की भी अपनी एक आचार-संहिता हो। हिंसा से बचा जाय। कच्छ समझौते के विरोध में दीनदयाल जी ने जो प्रदर्शन दिल्ली में संगठित किया था, वह उनके अनुशासनबद्ध विरोधतंत्र का नमूना था। चौथा सूत्र यह था कि चुनाव के लिए निधि एकत्रित करते समय भी कार्यकर्ताओं को चाहिए कि प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र में धन एकत्रित करें। दीनदयाल जी इस बात का आग्रह रखा करते थे। पाँचवीं परिकल्पना थी कि दल-संगठन तथा दल के कार्यकर्ताओं का राजनीति में जो स्थान है उसकी गरिमा को बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार नाना उपक्रम कर या करने के सुझाव देकर भारतीय लोकतंत्र को उसका अपना स्वतंत्र ढाँचा देने का प्रयास दीनदयाल जी ने जनसंघ के माध्यम से किया। आज भी ये सारे प्रयास चालू रखने योग्य हैं। किंबहुना, रचनात्मक लोकतंत्रीय वृत्ति वाले विरोधी

दल-नेता के रूप में दीनदयाल जी की प्रतिमा और भारतीय लोकतंत्र की भारतीयता दिखाने वाली उनकी परिकल्पनाएं आज भी विचारणीय हैं।

स्वतंत्र विदेश-नीति

दीनदयाल जी कहा करते थे कि सब क्षेत्रों में भारत को स्वतंत्रता से चलना चाहिए। आर्थिक नियोजन के बारे में उन्होंने जहाँ स्वदेशी नियोजन का समर्थन किया, वहीं स्वतंत्र विदेश-नीति का भी उन्होंने आग्रह किया। पाकिस्तान के प्रति उनकी भूमिका जहाँ भारतनिष्ठ थी, तो अमरीका एवं रूस दोनों महाशक्तियों के बारे में भी वैसी ही थी। एक धारणा फैलाने का प्रयास चल रहा था कि जनसंघ अमरीका के लिए अधिक अनुकूल है। लोकतंत्रात्मक राष्ट्र होने के कारण अमरीका के बारे में 'नरम' नीति अपनाने के पक्षधर लोग जनसंघ में कुछ तो थे ही। इस बारे में अपनी भूमिका स्पष्ट करते हुए दीनदयाल जी कहा करते थे—"अमरीका को भारत में लोकतंत्र की रक्षा करने की अपेक्षा विश्व में अपना प्रभुत्व बढ़ाने में अधिक रुचि है। अतः वह सदैव यही प्रयास करेगा कि भारत का एक शक्ति के रूप में विकास कभी न हो।" (पं. दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति-दर्शन—जगदीशप्रसाद माथुर का लेख)

तिब्बत पर चीन ने आक्रमण किया, तब दीनदयाल जी ने तिब्बत की स्वतंत्रता का पक्ष लिया। उन्होंने उस समय कहा था—"स्वतंत्र तिब्बत एशिया में शांति रखने के लिए आवश्यक है। जो लोग इस विषय में यह सोचते हैं कि भारत को कुछ लचीली नीति पर चलना चाहिए, वे दो समान राष्ट्रों में स्नेह का संबंध नहीं चाहते, प्रत्युत् कम्युनिस्टों की दासता भारत स्वीकार करे, यह उनकी इच्छा होती है। ऐसा सोचना देश-द्रोह है।" (आर्गनाइजर, २५ मई, १९५९) इसी विषय पर लोकसभा में भाषण करते हुए श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा था—"हमें चीन के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना है। किन्तु हमारा स्पष्ट मत है कि तिब्बत की स्वतंत्रता की माँग चीन का आन्तरिक प्रश्न नहीं है। मैं एक छोटे दल का प्रतिनिधि हूँ, किन्तु तिब्बत की स्वतंत्रता को हमारा पूर्ण समर्थन है।" (आर्गनाइजर, २५ मई, १९५९) जनसंघ उस समय एक छोटा दल था, किन्तु प्रखर राष्ट्रवादी नीति के कारण उसे राजनीतिक क्षेत्रों में मान्यता मिली थी। राष्ट्रवादी दृष्टि से विदेश -नीति की ओर देखने का जनसंघ ने सदैव प्रयास किया। भारतीय राजनीति में गुटनिरपेक्ष किन्तु प्रखर राष्ट्रवादी (Non-aligned Nationalist approach) भूमिका के कारण जनसंघ ने अपना स्वतंत्र स्थान बना लिया था, इसमें संदेह नहीं।

हिन्दू-विरोधी पूर्वाग्रहों का निर्मूलन

पाकिस्तान का तुष्टीकरण और भारतीय मुसलमानों के प्रति नरमी, किंबहुना उनकी जातीयता का पोषण करने वाली नीति, नेहरू-नीति की दो विशेषताएं थीं। हिन्दू विचार, हिन्दू-हित तथा हिन्दू संस्कृति को बहुसंख्य हिन्दुओं के इस देश में उनका न्यायोचित स्थान स्वतंत्र भारत के शासकों ने कभी नहीं दिया। प्रत्युत् वे हिन्दू विचार एवं हिन्दू आचार की सदैव खिल्ली उड़ाते थे और आज भी उड़ाते हैं।

गांधी जी अपने आपको सनातनी हिन्दू कहते थे, किन्तु उन्हें साम्प्रदायिक कहने का साहस किसी ने नहीं किया। कांग्रेस के इस 'सेक्यूलरवाद' का राजनीति पर भी प्रभाव पड़ा। हिन्दू शब्द के बारे में एक प्रकार की राजनीतिक घृणा उत्पन्न हो गयी। जनसंघ के असंख्य कार्यकर्ताओं का वैचारिक गोत्र रा.स्व.संघ था, अतः उन्हें भी राजनीति के इस हिन्दू-विरोधी पूर्वाग्रह एवं अस्पृश्यता से लड़ना पड़ा। जनसंघ ने कुछ मात्रा में इस लड़ाई में सफलता प्राप्त की। तब 'सेक्यूलर' भारतीय तथा पाश्चात्य राजनीतिक समीक्षक यद्यपि जनसंघ को 'हिन्दू राष्ट्रवादी दल' कहते थे, तो भी उसका राष्ट्रवादी रूप ही मान्य हो चला था। दीनदयाल जी ने रा.स्व.संघ के साथ अपने संबंध कभी छोड़े नहीं। (उनका निधन ११ फरवरी, १९६८ को हुआ। रा.स्व.संघ में उनका अंतिम बौद्धिक-वर्ग ४ फरवरी, १९६८ को उत्तर प्रदेश में बरेली में हुआ था।) जनसंघ के कारण कांग्रेस की हिन्दूमत विरोधी राजनीति को लगाम लगी। दीनदयाल जी ने सिद्ध कर दिया कि भारत की राजनीति में हिन्दू-हितों की उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा तथा हिन्दू-विचार ही सर्वांगीण पुनर्रचना का आधार बन सकता है।

अनुशासनबद्ध दल, अनुशासनबद्ध राष्ट्र

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'अनुशासनबद्ध दल ही राष्ट्र में अनुशासन-निर्माण कर सकता है।' भारत में लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। १९५७ के चुनाव-दौरे में दीनदयाल जी आंध्र में गये थे। तब वहाँ के जनसंघ-कार्यकर्ताओं ने उनसे कहा था—"जनसंघ को संसदीय राजनीति से बाहर रखने के लिए,'राष्ट्रीय दल' के रूप में मान्यता प्राप्त करने हेतु आवश्यक न्यूनतम मतों का प्रतिशत बढ़ा लेने का कांग्रेस प्रयास कर रही है। हम सबको उसका विरोध करना चाहिए।" तब दीनदयाल जी ने शांत भाव से कहा था—"हम विरोध नहीं करेंगे। हम उतने मत प्राप्त करके दिखायेंगे जितना कांग्रेस बढ़ाकर करना चाहती है और राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त कर लेंगे।" कार्यकर्ताओं ने पूछा—"कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ समझौता किया है। क्यों न हम भी करें?" इस पर दीनदयाल जी ने उत्तर दिया—"केवल मतों के लिए हम कांग्रेस जैसी सौदेबाजी नहीं करेंगे। कांग्रेस ने अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए हिन्दू-मुसलमानों में भेदभाव को बढ़ाया है। हम लोग निश्चय ही सम्प्रदायवादी नहीं हैं। कांग्रेस सम्प्रदायवादी है। गैर-हिन्दुओं से, वे राष्ट्रनिष्ठ हों तो हमारा कोई मतभेद नहीं। हमें चाहिए कि मुसलमानों में राष्ट्रीय भावना को बढ़ायें। उनके साथ मैत्री करें। किन्तु केवल मतों के लिए हम ऐसा नहीं करेंगे। कुछ भी हो जाये, अपना अनुशासन हम नहीं छोड़ेंगे। 'राजनीति में सब कुछ चलता है'—इस धारणा को हम गलत सिद्ध कर देंगे। राजनीति में भी अनुशासन रह सकता है, यह सिद्ध करने के लिए ही जनसंघ राजनीति में आया है।" (पं. दीनदयाल उपाध्याय—ए प्रोफाइल, पृष्ठ १२६)

जनसंघ ने राजनीति में अनुशासन रखने के लिए कितना संयम बरता था, दीनदयाल जी के उपर्युक्त उद्‌गारों से स्पष्ट हो जाता है। जनसंघ को कार्यकर्ताओं

का दल माना जाने लगा था। कारण, नेता और अनुयायी जैसी कोई बात वहाँ नहीं थी। सबको ध्येयवाद एवं राष्ट्र के अनन्य सेवक की समान श्रेणी प्राप्त थी। अतः 'लोकतंत्र माने धांधली या गुंडागर्दी' का कांग्रेस की राजनीतिक द्वारा निर्मित समीकरण जनसंघ ने बदल डाला और राजनीतिक कार्यकर्ता को राजनीतिक दल के संगठन में सम्मान एवं कर्तृत्व का स्थान प्राप्त करा दिया। यही कारण था कि मूल्याधिष्ठित राजनीति मात्र कविकल्पना न रहकर एक व्यावहारिक कल्पना बन गयी। इसके लिए जनसंघ को प्रचुर राजनीतिक आलोचना सहनी पड़ी। फिर भी राजनीति में सभ्यता, शालीनता एवं वचनबद्धता रह सकती है, यह जनसंघ ने सिद्ध कर दिखाया। भारतीय राजनीति का गुणात्मक रूप जनसंघ के रूप में जनता को दिखाई देने लगा। दीनदयाल जी इस नयी गुणात्मक परम्परा के शिल्पी थे। स्पष्ट है कि भारतीय तत्त्वदर्शन, भारतनिष्ठ नीति, सामान्यजन के साथ सत्यनिष्ठ और मूल्यनिष्ठ राजनीति जनसंघ की भारतीय राजनीति को देन थी और इन सबके प्रेरणा-केन्द्र दीनदयाल जी थे। अतः दीनदयाल जी के निधन के बाद उनके परम मित्र एवं सहयोगी श्री सुन्दरसिंह भण्डारी ने कहा था—"यह बात अक्षरशः सत्य है कि डा. मुखर्जी ने जनसंघ की स्थापना की और दीनदयाल जी ने उसमें प्राणप्रतिष्ठा की।"

९.
दीनदयाल जी का रिक्थ (विरासत)

दीनदयाल जी के राजनीतिक जीवन का उद्देश्य था भारतीय राजनीति में उसकी सनातन संस्कृति का आधुनिक रूप दिखाना। किन्तु विधाता ने अचानक उनको हमारे बीच से उठा लिया। उनकी मृत्यु के बाद दीनदयाल जी का अंतिम दर्शन करने के लिए श्री गुरुजी गये थे। अंतिम दर्शन के लिए धरती पर रखा दीनदयाल जी का पार्थिव देह दिल्ली ले जाने के लिए विमान में रखा गया। श्री गुरुजी से रहा नहीं गया। गुरुजी फिर से विमान में गये और उन्होंने दीनदयाल जी के अंतिम दर्शन किये। तब उनके मुँह से बरबस निकला–"मेरा सब कुछ चला गया।" (जनसंघ के कार्यालय-प्रमुख श्री जगदीशप्रसाद माथुर द्वारा सुनाया गया संस्मरण) श्री गुरुजी के इन उद्गारों में एक स्थितप्रज्ञ की आर्तता थी। जनसंघ एवं रा.स्व.संघ के हजारों कार्यकर्ताओं का दुःख तथा दीनदयाल जी की क्रूर हत्या के कारण उन्हें हुई असीम वेदना श्री गुरुजी के उद्गारों में प्रकट हुई थी। किन्तु श्री गुरुजी ने अपने शोक-संदेश में कहा था–"संघ द्वारा निर्मित परम्परा से और भी नर-रत्न आगे आयेंगे और दीनदयाल जी की विरासत को आगे चलायेंगे।"

दीनदयाल जी का यह रिक्थ (विरासत) क्या था? और उसे आगे चलाने का अभिप्राय क्या था? राजनीति में सत्ता का उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए बहुत से छल-कपट किये जाते हैं, षड्यंत्र रचे जाते हैं। किन्तु दीनदयाल जी का उत्तराधिकार या रिक्थ शुद्ध आचरण और उन्हें अभिप्रेत नयी राजनीतिक संस्कृति तथा सिद्धांत का आग्रह रखने वाली राजनीति है। भारत के वर्तमान राजनीतिक चित्र को बदलने के लिए तथा भारत की अभी तक अनिर्णीत समस्याओं का समाधान करने के लिए दीनदयाल जी ने जो तत्त्वविचार एवं तत्त्वदृष्टि दी थी, उसका क्या कितना उपयोग हो सकता है हमें सोचना चाहिए। भारत की अनिर्णीत समस्याएं क्या हैं? उनके समाधान के लिए दीनदयाल जी के राजनीतिक चिंतन एवं व्यक्तित्व का कितना उपयोग होगा? यह दूसरा प्रश्न है। इस संबंध में हमारा आग्रह क्या है? यह तीसरा प्रश्न है। दीनदयाल जी की कृतिशील परम्परा को आगे चलाना हो तो इन तीन प्रश्नों के उत्तर खोजने होंगे।

राष्ट्रीय एकात्मता का अधिष्ठान

भारतीय राष्ट्र नवनिर्मित राष्ट्र नहीं है। एक प्राचीन संस्कृति की नींव पर खड़े भारत की यह केवल नयी अभिव्यक्ति है। जिस संघ-परिवार से दीनदयाल जी

राजनीति में आये, उसका यह आद्य सिद्धांत है। आज भी भारत के राष्ट्रजीवन में संघर्ष, तनाव, अलगाव की प्रवृत्ति आदि कई राष्ट्र-बाधक बातें हैं। 'एक देश, एक जन, एक संस्कृति' की राष्ट्रकल्पना को धक्का देने वाली अनेक घटनाएं प्रतिदिन हो रही हैं। प्रबुद्ध लोग एक दूसरे से पूछ रहे हैं कि भारत जा कहाँ रहा है? भूचाल आता है तो लोगों की मनोदशा व्याकुल हो जाती है। आज भारतीयों की अवस्था कुछ वैसी ही है। इस अवस्था में यह भावना ही कि 'यह समाज एक ही सांस्कृतिक परम्परा से जुड़ा है, यह देश तथा राष्ट्र एक है', हमारी राष्ट्रीय एकात्मता का अधिष्ठान है। यह आत्मबोध कराने वाली सांस्कृतिक एकता का आंदोलन चलाना ही इस राष्ट्र में आत्मविश्वास निर्मित करने का एकमात्र मार्ग है।

किन्तु विगत ३९ वर्षों की आत्म-विस्मृत राष्ट्रीय, आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों के कारण इस भारतीय समाज का विभाजन हो गया है। समृद्धि के साथ ही दरिद्रता भी बढ़ी है। आर्थिक विषमता भी बढ़ गयी है। विसंगति एवं विरोधाभास आज भारत में जितने तीव्र अनुभव किये जाते हैं, अन्य देशों में नहीं किये जाते। पंचतारांकित संस्कृति एवं झुग्गी-झोपड़ी की संस्कृति आज भारत में विसंगति के भयानक दृश्य प्रस्तुत करती हैं। इस संस्कृति ने हमारी सामाजिक संवेदनक्षमता की धार भोथरी बना दी है। दीनदयाल जी भारत की पुनर्रचना का निरंतर विचार करने वाले संवेदनशील नेता थे।

आज के सामाजिक जीवन में भोथराई संवेदना की धार को पुनः पैनी करने के लिए केवल आर्थिक तत्त्वज्ञान या समृद्धि की भौतिक प्रेरणा पर्याप्त नहीं है। 'डूब रही जनता, यह देखा नहीं जाता!' ऐसी सामाजिक करुणा उसके लिए आवश्यक है। इसीलिए दीनदयाल जी ने इस सिद्धांत का कि मानव केवल आर्थिक पशु है, तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य को छीन लेने वाले कम्युनिज्म का विरोध करते हुए एकात्म मानववादी अर्थव्यवस्था का प्रतिपादन किया था। प्रत्येक नागरिक को मताधिकार राजनीतिक लोकतंत्र का प्रतीक है। उसी प्रकार हर हाथ को काम और काम का उचित दाम आर्थिक लोकतंत्र का मार्गदर्शक सूत्र है। दीनदयाल जी के आर्थिक तत्त्वज्ञान का यही सार है।

धर्मराज्य चाहिए

आज इस देश में सामाजिक नैतिकता नहीं बची है। राजनीतिक नैतिकता का तो नामोनिशान नहीं है और संवैधानिक नैतिकता नष्ट होती जा रही है। राजनीति केवल राजसत्ता की नीति बन गयी है। अधर्म ही आज का धर्म हो गया है। ऐसी अवस्था में केवल आर्थिक समृद्धि एक अभिशाप होगा। दीनदयाल जी ने एक बार कहा था—"लंका में सोने की ईंटें होंगी, किन्तु वहाँ रामराज्य नहीं होगा।" वे धर्मराज्य चाहते थे। धर्मराज्य का अभिप्राय है सुनीति का राज्य। राजनीति पर धर्म अर्थात् उत्तम नीति का नियंत्रण ही भारत की प्राचीन परम्परा है। उस धर्म की पुनःस्थापना किये बिना समाज सुखी एवं निर्भय नहीं होगा। धर्म का अर्थ कोई विशिष्ट मत या सम्प्रदाय नहीं, वरन् समाज की धारणा करने वाला धर्म होता है, यही हिन्दू परम्परा में धर्म की व्याख्या है। धर्म तत्त्व सनातन एवं अपरिवर्तनीय

होता है, क्योंकि वह नैतिक आचरण का तत्त्व होता है। भारत में ऐसे नैतिक राज्य का निर्माण किये बिना यहाँ सुख और संतोष नहीं रह पायेंगे।

निःसंग नेतृत्व की आवश्यकता

भारत की समस्याएं केवल राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक या सांस्कृतिक नहीं हैं। वे इन सब समस्याओं का समाधान करने वाले जीवन-मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठापित करने की समस्याएं हैं। अतः यह मूल्यविचार एवं मूल्यनिर्णय आज का प्रमुख प्रश्न है। ये मूल्य रक्तचाप की भांति समाजजीवन को संतुलित रखते हैं। आज यह आंतरिक संतुलन बिगड़ गया है। परिणामतः सर्वत्र अशान्ति है। समाज मानो भटक गया है। राजनीतिक हिंसाचार बढ़ता जा रहा है। नारी का शील असुरक्षित है। विद्या एवं ज्ञान के पवित्र माने जाने वाले क्षेत्र आज बाजार बन गये हैं। इन सबके मूल में राजनीतिक भ्रष्टाचार है। अतः राजनीति में गुणात्मक परिवर्तन किये बिना अच्छे लोगों द्वारा संचालित सुराज्य का निर्माण नहीं होगा। वह करना हो तो निःसंग तथा सत्तानिरपेक्ष राजनीतिक नेतृत्व का निर्माण करना होगा। दीनदयाल जी ऐसे राजनीतिक नेतृत्व के आदर्श थे। 'राजा राज्य का उपभोगशून्य स्वामी है'—यह एक कालजयी सिद्धांत है। लोकतंत्र की सफलता के लिए अपने स्वार्थ को फूंककर कृतार्थता अनुभव करने वाले राजनीतिक नेतृत्व की आवश्यकता है। यह सच है कि ऐसे साधु बड़ी संख्या में निर्मित नहीं होंगे, किन्तु शरीर को शुद्ध रक्त पहुँचाने वाला हृदय भी छोटा ही होता है। ऐसा सत्तानिरपेक्ष राजकीय नेतृत्व राजनीति में हृदय का कार्य करता है। दीनदयाल जी की यह विरासत है। उसे संजोये रखना यद्यपि कठिन है, तो भी संजोकर चलना आवश्यक है।

लोकतंत्र का आचारधर्म

भारतीय लोकतंत्र का संस्थागत स्वरूप संसद, विधानसभाएं तथा जिला एवं ग्राम पंचायतें हैं। किन्तु विगत ३५ वर्षों में इन संस्थाओं के कार्य, उनके गठन एवं उपयोग का अध्ययन करने पर दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक, जाति-पाँति के हितों का रक्षण एवं उनके नेताओं के व्यक्तिगत लाभ के लिए ही लोकतंत्र की समूची सत्ता-प्रणाली जोत दी गयी है। दूसरा निष्कर्ष है कि एकात्म तथा एकरस भारतीय समाज के निर्माण के स्थान पर भीतर से टूटा हुआ विभक्त तथा स्वार्थी समाज का ही इसमें से निर्माण हो रहा है और समाज के विविध सत्तागुटों की सत्तास्पर्धा का ही दूसरा नाम आज की लोकतांत्रिक राजनीति हो गया है। परिणामस्वरूप हमारी राजनीति केवल नाम के लिए सिद्धांतवादी और व्यवहार में अवसरवादी सत्तानीति बन गयी है। लोकतंत्र का यह मूल्यभ्रष्ट रूप है। दीनदयाल जी द्वारा प्रतिपादित 'सामान्य मानव ही राजनीति का देवता बन जाना चाहिए' वाली कसौटी लगाकर आज ही राजनीति को लोकनीति का अधिष्ठान देना होगा। हमारे संविधान की प्रस्तावना में शब्द-प्रयोग है—'हम, भारत के लोग'। साथ ही यह कहा गया है कि इस संविधान को भारत के लोग 'आत्मार्पित करते हैं'। इसका अर्थ है, वह 'स्वयं स्वीकृतम्' अर्थात् स्वयं के आचरण के लिए निर्मित संविधान है। अतः यह

संविधान, उसके द्वारा निर्मित सत्ता-रचना, उसकी कार्यवाही के लिए प्रतिबद्ध शासन, और वह शासन लोकहित के लिए ही काम करेगा—इस ध्येयवाद के साथ राजनीति में जन्मे राजनीतिक दल, ये सब बातें लोगों के लिए ही हैं। यह बोध सतत् जाग्रत रहे, तभी भारतीय लोकतंत्र यथार्थ में लोकतंत्र बनेगा। अन्यथा वह सत्ता-पिपासु झुंड के पंजे में फँसा, चुनाव के नाटक द्वारा निर्मित मात्र सत्तातंत्र बन जायेगा।

दीनदयाल जी ने राजनीतिक दल और जनता के संबंधों को स्पष्ट करते हुए कहा था—"आप यदि लोकतंत्रवादी हैं तो अपनी विवेकबुद्धि के आदेशों के अनुसार आचरण कीजिए, अन्य कोई भी प्रमाण स्वीकार न कीजिए। राजनीतिक दल जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्मित किये जाते हैं। लोकशक्ति ही उनका आधार है। इन दलों को सामर्थ्य लोगों से ही प्राप्त होता है। लोग ही राजनीतिक दलों के शिल्पी होते हैं और अपने राजनीतिक भवितव्य का निर्माण किया करते हैं। अतः राजनीतिक दल केवल सत्ता के प्यासे लोगों का जमघट नहीं हुआ करता। वह ध्येयवादी, समर्पित एवं विशिष्ट विचारधारा के लिए प्रयत्नशील रहने वाले लोगों का सांघिक अस्तित्व एवं अनुशासनबद्ध संगठन हुआ करता है।" लोकतंत्र का व्यवहार एवं आचारधर्म क्या हो, इसके बारे में दीनदयाल जी के ये विचार इतने मौलिक हैं कि वे भारत में आज के और आगामी सभी राजनीतिक दलों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होंगे।

राजनीति राष्ट्र के लिए

दूसरा सिद्धांत है—भारतीय राजनीति को जहाँ लोकनीति का अधिष्ठान होना चाहिए, वहाँ उसे राष्ट्रनिष्ठ भी होना चाहिए। राष्ट्रनीति राजनीति का अंतिम लक्ष्य होना चाहिए। १९६२ तथा १९६५ में भारत-चीन तथा भारत-पाक में हुए युद्धों के समय जनसंघ ने सरकार को जो सहयोग दिया वह उसकी दलगत राजनीति से ऊपर उठी राष्ट्रभक्ति का उत्तम उदाहरण था। राष्ट्रहित को दल के हितों की अपेक्षा सदैव श्रेष्ठ मानने का नियम दीनदयाल जी ने स्वयं अपने आचरण द्वारा ही डाला था। जिस प्रकार व्यक्ति को अपने हित के लिए राष्ट्र के हित की बलि नहीं देनी चाहिए, उसी प्रकार दल को भी व्यवहार करना चाहिए। अतः दीनदयाल जी की राजनीति का केन्द्र-बिन्दु राष्ट्र था। स्वराज्य की कोई भी नीति राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर बनायी जाय, यह दीनदयाल जी का मार्गदर्शक सिद्धांत था। इसीलिए उनके सभी विचारों को राष्ट्रनीति का अधिष्ठान प्राप्त है।

स्वदेशी और विकेन्द्रीकरण

भारतीय जनसंघ का जन्म स्वतंत्रता के बाद हुआ। किन्तु स्वतंत्रता-आंदोलन के चार मार्गदर्शक सूत्रों को उसने व्रतों के रूप में स्वीकार किया। ये चार मार्गदर्शक ध्येयसूत्र हैं—एकात्म राष्ट्रवाद, लोकतंत्र, सामाजिक क्षमता और स्वदेशी। भारतीय राष्ट्र-जीवन के ये चार ध्येयसूत्र चिरंतन हैं। दीनदयाल जी का राजनीतिक एवं आर्थिक चिंतन इन ध्येयसूत्रों को आत्मसात् करने वाला चिंतन है। उन्होंने कहा है—"स्वदेशी और विकेन्द्रीकरण, इन दो

शब्दों में आज की परिस्थिति के लिए उपयुक्त अर्थनीति का वर्णन किया जा सकता है। आज स्वदेशी एक प्रतिगामी एवं कालबाह्य संकल्पना बन गयी है। हम बड़े गर्व के साथ विदेशी सहायता स्वीकार करते हैं। विचार, व्यवस्थापन, पूँजी तथा उत्पादन में सर्वत्र हम विदेशी सहायता लेते हैं। उपभोग की वस्तुओं की खपत का आदर्श भी हम विदेशी ही रखते हैं। यह हमारी प्रगति एवं विकास का मार्ग निश्चय ही नहीं है। स्वत्व का विस्मरण कराने वाली यह दासता की प्रवृत्ति है। हम उसके दास बनते चले जा रहा हैं। सच पूछा जाय, तो स्वदेशी की संकल्पना के रचनात्मक पक्ष को हमारी अर्थनीति की आधारशिला बनाया जाना चाहिए।''

आज समाजवाद सर्वभक्षी राज्यवाद (स्टेटिज्म) का दूसरा नाम बन गया है। गरीबी हटाने की योजनाएं शासन की दासता को लादने वाली योजनाएं बन रही हैं। ऐसे समय पंचायत-राज और विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के द्वारा ही व्यक्ति की स्वतंत्रता, उसकी प्रतिष्ठा और लोकतंत्र का संरक्षण हो सकेगा। आवश्यकताओं को बढ़ाने वाली अर्थनीति भारत जैसे देश के लिए किसी काम की नहीं। उसी प्रकार सत्ता का केन्द्रीकरण करने वाली शासनव्यवस्था भी नहीं चलेगी। दीनदयाल जी का राजनीतिक एवं आर्थिक रिक्थ (विरासत) इन दो संकल्पनाओं में समाया है। लोकतंत्र की सत्तारचना पर सैनिक या स्वार्थी राजनीतिक गुटों का प्रभुत्व हो जाने का संकट भारत में उत्पन्न हो गया है। ऐसे समय जनमत को इन दो संकल्पनाओं की आधारभूमि पर संगठित कर जनशक्ति को प्रतिकार के लिए खड़ी करना ही लोकतंत्र की रक्षा का एकमात्र मार्ग है।

संक्रमणकालीन राजनीति

आज भारत के सम्मुख प्रश्न यह है कि लोकतंत्र का रूपांतर झुंडतंत्र में होने की संभावना उत्पन्न हो तो क्या किया जाये? निरंकुश सत्तावाद के विरुद्ध प्रबुद्ध नीतिमान लोकतंत्र का यह संघर्ष है। इसमें जनमत को नरसिंह का रूप धारण करना होगा। भारत में औपचारिक लोकतंत्र को यह अग्निपरीक्षा देनी होगी। इसके लिए संमिश्र सरकार बनाते समय दीनदयाल जी द्वारा स्वीकृत नीति पर चलने की आज आवश्यकता है। उस नीति के दो सिद्धांत थे। एक राजनीतिक अस्पृश्यता को त्यागकर सीमित सहयोग की नीति पर चलना। दूसरा, यदि लोग कांग्रेस को सत्ता से हटा देते हैं तो उन्हें गैर-कांग्रेसी दलों की सरकार देने के लिए फिर से कांग्रेस के हाथ में सत्ता जाने देने वाला कोई काम न करना। यदि किया जाता है तो वह जनता के साथ द्रोह करने के समान होगा। इसके लिए गैर-कांग्रेसी दलों को जनहित के सर्वमान्य कार्यक्रम तैयार कर उन पर आचरण करने वाली सरकार बनानी चाहिए। कांग्रेस का विरोध राजनीति का रचनात्मक तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। राष्ट्रवादी लोकतंत्रीय दलों की कांग्रेसविरोधी एकता कांग्रेस को सत्ता से दूर रखने के लिए आवश्यक है, किन्तु वह सहयोग कार्यक्रम पर आधारित होना चाहिए। संयुक्त मोर्चे की अपेक्षा संमिश्र सरकार अधिक टिकाऊ होगी। अब भारत में मिली-जुली सरकारों का कालखंड प्रारम्भ हो रहा है। ऐसे समय जनमत में निष्ठा रखने वाले और जनहित एवं राष्ट्रहित पर आधारित न्यूनतम कार्यक्रम के प्रति प्रतिबद्ध रहने वाले कार्यक्षम एवं स्वच्छ प्रशासन का निर्माण करना गैर-कांग्रेसी

दलों का नैतिक एवं राजनीतिक कर्तव्य है। १९७७ में संक्रमण हुआ; किन्तु राजनीतिक नेता संक्रमण-काल के कर्तव्यों को भुला बैठे। अपनी प्रतिष्ठा, पद और घटक दल के विवर्त में वे लोग आपस में झगड़ते रहे। अब यदि इतिहास फिर से दोहराया न जाने की इच्छा हो तो राजनीतिक नेताओं को यह कभी नहीं भुलाना चाहिए कि उनकी सत्ता लोगों के मतों से निर्मित होती है। दीनदयाल जी ने लोकतंत्र में मिलने वाले मतों का जो महत्त्व बताया था, वह आज भी मार्गदर्शक रहना चाहिए। उनका कहना था—"लोगों की आशा-आकांक्षाओं को व्यवहार में लाने के लिए मत एक आदेश है।" लोकतंत्र का यह मूल मंत्र है।

इतिहास के मोड़ पर

आधुनिक भारत के इतिहास में संक्रमण-काल अभी समाप्त नहीं हुआ है। विगत ३९ वर्षों में स्वराज्य और पुनर्रचना का जो अनुभव मिला है, जो भूलें हुई हैं, जो संकट आये हैं, जो सामाजिक तनाव उत्पन्न हुए हैं और राजनीतिक नेतृत्व एवं दलों से की गयी अपेक्षा जितनी पूर्ण हुई है तथा जितनी निराशा हाथ लगी है, इन सब बातों का लेखा-जोखा आज की पीढ़ी को करना है। राष्ट्रीय पुनर्रचनाओं के उद्देश्य एवं मार्ग निश्चित करने हैं। १९वीं तथा २०वीं शती में पाश्चात्य चिंतन, पाश्चात्य मूल्य और पाश्चात्य राष्ट्रों की सफलता आधुनिक भारत की प्रेरणाएं थीं। 'स्व' को भुलाकर 'स्वराज्य' को चलाने का प्रयास हमने किया। अब राष्ट्र इतिहास के एक मोड़ पर आ पहुँचा है। अध्यात्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं। उनका समन्वय करके ही मानवजीवन को सुखी एवं निरामय किया जा सकता है। आध्यात्मिक होने का अर्थ भौतिक सुखों की ओर से उदासीन हो जाना, भारतीय संस्कृति को स्वीकार नहीं। ऐसा मिथ्या अर्थ करने के कारण ही विज्ञान में प्रगति कर चुके पश्चिम की सभी बातों का हमने सर्वांगीण अनुकरण किया। इस अनुकरण में जागरूकता नहीं थी। आज भारत की अनेक समस्याएं अंधानुकरण के कारण उत्पन्न हुई हैं। सिंधु-संस्कृति के उदय से लेकर गांधी जी के सर्वोदय तक नाना सामाजिक प्रयोग भारत ने किये है। अब एकात्म मानववाद एवं एकात्म संस्कृतिवाद के आधार पर आधुनिक भारत का नया राष्ट्रजीवन संगठित करने की आवश्यकता है। 'प्राप्त समय है विशाल भूधर। सुघड़ कन्दरा खोदो उस पर। और करो अंकित निज नाम।।' यह केशवसुत का संदेश चरितार्थ करने का यह समय है। दीनदयाल जी के राजनीतिक जीवन, उनके विचारधन तथा उनके पारदर्शी व्यक्तित्व, तीनों से ही समाज, राजनीतिक दलों, कार्यकर्ताओं तथा समाजसेवियों को निरंतर प्रेरणा मिलेगी, इसमें संदेह नहीं।

विराट् को जाग्रत रखें

भारत में सर्वांगीण परिवर्तन प्रत्येक देशभक्त का सपना है। 'परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्'—इस प्रार्थना को प्रतिदिन उच्चारित करने वाली संघशाखा ने दीनदयाल जी के व्यक्तित्व को विकसित किया था। उसके लिए भारतीय राष्ट्र के आत्मा या चिति का बोध जगाने वाले चैतन्ययुक्त संगठित समाज का—जिसे दीनदयाल जी ने विराट् कहा है—स्वप्न उन्होंने देखा था। शरीर में प्राणों के कारण चैतन्य प्रकट होता है। उसी भांति इस जाग्रत विराट् के कारण राष्ट्रजीवन सुसंपन्न

होता है। जब तक शरीर में प्राण हैं, तब तक उसके सारे अवयव परस्पर सहयोग से शरीर के सभी व्यापारों को चलाते हैं। उसी प्रकार यह विराट् जागरूक हो तो राष्ट्रजीवन सुचारु ढंग से चलेगा। प्रत्येक राष्ट्र का स्वतंत्र एवं सांस्कृतिक अस्तित्व होता है। कम्युनिज्म, इस्लाम, ईसाई मत, या बौद्ध मत स्वीकार करने वाले एक ही विचारधारा के राष्ट्र भी अपने-अपने व्यक्तित्व को संजोये रखते हैं। वे उसका संवर्धन भी करते हैं। भारतीय राष्ट्र भी प्राचीन काल से अपना सांस्कृतिक व्यक्तित्व रखने वाला राष्ट्र है। उसकी अपनी जीवन-दृष्टि, जीवन-प्रणाली एवं तत्त्व-दृष्टि है। वह एकात्म है। दीनदयाल जी ने आग्रह रखा था कि भारतीयों का सांस्कृतिक व्यक्तित्व पुनः प्रकट हो। इसके लिए उन्होंने तत्त्वदृष्टि दी। एकात्म मानव दर्शन उसका नाम है। भारत का राष्ट्रीय उत्थान भारत की ही नहीं, अपितु मानवता की आवश्यकता है। राजनीति उसका साधन है, उसका व्यवहार है। शुद्ध बीज से उत्पन्न होने वाले वृक्ष पर रसीले और सुहावने फल आते हैं। दीनदयाल जी ने भारतीय जनता को यही शुद्ध बीज सौंपा है। उनके रिक्थ को लेकर चलने वाले प्रबुद्ध भारतीयों को चाहिए कि उस शुद्ध बीज को संजोये रखें। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह बीज यथासमय अंकुरित और पल्लवित होगा तथा उस पर उत्तम फल लगेंगे।

श्री भालचन्द्र कृष्णाजी केलकर

सिद्धहस्त पत्रकार, लेखक तथा दिल्ली में 'महाराष्ट्र परिचय केन्द्र' के संस्थापक-संचालक श्री भा.कृ. केलकर ने 'नवशक्ति', 'विवेक', 'तरुण भारत' आदि पत्र-पत्रिकाओं में भरपूर लेखन किया है। १९८३ में सरकारी सेवा से निवृत्त होने के बाद स्वतन्त्र पत्रकार के रूप में लेखन-कार्य में लगे हैं। 'सुभाष चरित्र', 'सावरकर दर्शन', 'तिलक विचार', 'समाज-सुधारक सावरकर' इत्यादि ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं। गोपाल कृष्ण गोखले स्मारक ग्रन्थ, 'समग्र तिलक' और यशवन्तराव चव्हाण स्मृतिग्रन्थ तैयार करने के कार्यों का संयोजन-संचालन उन्होंने किया।

पं. दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए, पंडित जी के अनुयायियों को उनसे मिले राजनीतिक उत्तराधिकार का प्रतिपादन जिस सफलता से इस ग्रन्थ में किया गया है, वह श्री केलकर की मूलग्राही लेखन-वृत्ति का परिचय देने के लिये पर्याप्त है।